रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

नवनिर्मित श्रीरामकृष्ण मन्दिर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७६ ★

मन्दिर प्रतिष्ठापन विशेषांक

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : ४५८९

अनुक्रमणिका

—:०:—

कवर चित्र परिचय – **स्वामी विवेकानन्द**
(कलकत्ता में, सन् १९०१ ई०)

मुद्रण स्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १४] अप्रैल - मई - जून ★ १९७६ ★ [अंक २

जीव-भाव की सत्ता कब तक ?

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता
मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ।
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ।।

—जैसे भ्रम के रहते तक ही रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, भ्रम के नाश होने पर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता, वैसे ही जब तक भ्रम है, तभी तक प्रमादवश मिथ्या ज्ञान से प्रकट हुए इस (जीव-भाव) की सत्ता है।

—विवेकचूड़ामणि, १९७

त्याग एकदम से, क्रमशः नहीं

एक आदमी नहाने जा रहा था। उसके कन्धे पर गमछा पड़ा हुआ था। उसकी पत्नी ने उससे कहा, "तुम किसी काम के नहीं। उमर बीती जा रही है, पर तुम्हारी आदतें हैं कि जाने का नाम नहीं लेतीं। मेरे बिना एक दिन भी नहीं रह सकते। जरा फलाने की ओर देखो! कैसा बड़ा त्यागी है!"

"क्यों? उसने ऐसा क्या त्याग किया?" पति ने पूछा।

"उसके सोलह पत्नियाँ हैं और वह एक-एक करके उनको छोड़ता जा रहा है। और तुम हो, जो मुझसे चिपके रहते हो। तुम कभी भी त्याग नहीं कर सकोगे।"

"पत्नियों को एक-एक करके छोड़ना! तुम पगली हुई हो? वह कभी छोड़ नहीं सकेगा। अगर मनुष्य त्याग करना चाहे, तो क्या वह थोड़ा थोड़ा करके छोड़ता है?"-- पति बोला।

"फिर भी वह तुमसे तो अच्छा ही है," पत्नी ने मुसकराते हुए कहा।

"तुम भी मूर्ख ठहरीं," पति बोला, "तुम समझती नहीं। जिसकी बात तुम कह रही हो, वह सचमुच त्याग नहीं कर सकता। पर मैं कर सकता हूँ। लो, मैं चला!"

और सचमुच वह अपने कन्धे पर गमछा लिये ही वहीं से चल पड़ा। उसने यह जरूरत नहीं समझी कि घर जाकर सब ठीक-ठाक कर दे और तब संसार का त्याग करे। उसने पीछे लौटकर देखा तक नहीं।

जो लोग हिसाब लगाकर संसार का त्याग करना चाहते हैं, वे कभी वैसा नहीं कर सकते। इतना पैसा इकट्ठा हो जाय, इतने काम पूरे हो जायँ, तब मैं घर छोड़ूँगा, ऐसा जो लोग हिसाब लगाते हैं, संसार उनसे छूट नहीं पाता। त्याग कभी क्रमशः नहीं होता, वह तो एकदम ही साधित होता है।

जो त्याग करना चाहता है, उसमें मनोबल अच्छा खासा होना चाहिए। उसकी वृत्ति डाकू के समान निर्भीक और दुस्साहसी होनी चाहिए। कहीं भी जाने में डर नहीं, कहीं भी कूदने में संकोच नहीं। त्यागी भी संसार से कूदने में नहीं डरता। डाकू हिसाब लगाकर नहीं कूदता। यथार्थ त्यागी की वृत्ति इसी प्रकार की होती है।

•

रात्रि के समय आकाश में असंख्य नक्षत्र दिखायी देते हैं, पर सूर्योदय होने पर वे दृष्टिगोचर नहीं होते, तो उससे क्या कोई कह सकता है कि आकाश में तारे नहीं हैं ? इसी प्रकार से अविद्या के रहते यदि ईश्वर का दर्शन नहीं होता, तो क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर हैं ही नहीं ?

—श्रीरामकृष्ण

अग्नि-मंत्र

(अपने गुरुभाइयों को लिखित)

ॐ नमो भगवते श्रीरामकृष्णाय

१८९४

प्रिय भ्रातृवृन्द,

इसके पहले मैंने तुम लोगों को एक पत्र लिखा है, किन्तु समयाभाव से वह बहुत ही अधूरा रहा। राखाल एवं हरि ने लखनऊ से एक पत्र में लिखा था कि हिन्दू समाचार-पत्र मेरी प्रशंसा कर रहे थे, और वे लोग बहुत ही खुश थे कि श्रीरामकृष्ण के वार्षिकोत्सव के अवसर पर बीस हजार लोगों ने भोजन किया। इस देश (अमेरिका) में मैं बहुत कुछ कार्य और कर सकता था, किन्तु ब्राह्म समाजी एवं मिशनरी लोग मेरे पीछे दौड़ रहे हैं, एवं भारतीय हिन्दुओं ने भी मेरे लिए कुछ नहीं किया। मेरा तात्पर्य यह है कि अगर कलकत्ता या मद्रास के हिन्दुओं ने एक सभा बुलाकर मुझे अपना प्रतिनिधि स्वीकार करते हुए एक प्रस्ताव पारित करवाया होता तथा मेरे प्रति किये गये उदारतापूर्ण स्वागत के लिए अमेरिकावासियों को साधुवाद दिया होता, तो यहाँ पर कार्य में अच्छे ढंग से प्रगति होती। लेकिन एक साल बीत गया, और कुछ नहीं हुआ——निश्चय ही मैंने बंगालियों पर कुछ भी भरोसा नहीं किया था, पर मद्रासी लोग भी तो कुछ नहीं कर सके।...

हमारी जाति से कोई भी आशा नहीं की जा सकती।

किसी के मस्तिष्क में कोई मौलिक विचार जाग्रत नहीं होता, उसी एक चिथड़े से सब कोई चिपके हुए हैं--रामकृष्ण परमहंस देव ऐसे थे और वैसे थे, वही लम्बी-चौड़ी कहानी--जो बेसिर-पैर की है। हाय भगवन्, तुम लोग भी तो ऐसा कुछ करके दिखलाओ, जिससे यह पता चले कि तुम लोगों में भी कुछ असाधारणता है--अन्यथा आज घंटा आया, तो कल बिगुल और परसों चमर; आज खाट मिली, कल उसके पायों को चाँदी से मढ़ा गया--आज खाने के लिए लोगों को खिचड़ी दी गयी और तुम लोगों ने दो हजार लम्बी-चौड़ी कहानियाँ गढ़ीं--वही चक्र, गदा, शंख, पद्म तथा शंख, गदा, पदम चक्र--यह सब निरा पागलपन नहीं तो क्या है ? अंग्रेजी में इसी को imbecility (शारीरिक तथा मानसिक कमजोरी) कहा जाता है। जिन लोगों के मस्तिष्क में इस प्रकार की ऊलजलूल बातों के सिवाय और कुछ नहीं है, उन्हीं को जड़बुद्धि कहते हैं। घण्टा दायीं ओर बजना चाहिए अथवा बायीं ओर, चन्दन माथे पर लगाना चाहिए या अन्यत्र कहीं, आरती दो बार उतारनी चाहिए या चार बार--इन प्रश्नों को लेकर जो दिन-रात माथापच्ची किया करते हैं, उन्हीं का नाम भाग्यहीन है और इसीलिए हम लोग श्रीहीन तथा जूतों की ठोकर खानेवाले हो गये तथा पश्चिम के लोग जगद्विजयी।...आलस्य तथा वैराग्य में आकाश-पाताल का अन्तर है।

यदि भलाई चाहते हो, तो घण्टा आदि को गंगाजी

में सौंपकर साक्षात् भगवान् नारायण की--विराट् और स्वराट् की--मानव देहधारी प्रत्येक मनुष्य की पूजा में तत्पर हो। यह जगत् भगवान् का विराट् रूप है; एवं उसकी पूजा का अर्थ है, उसकी सेवा--वास्तव में कर्म इसी का नाम है, निरर्थक विधि-उपासना के प्रपंच का नहीं। घण्टे के वाद चमर लेने का अथवा भात की थाली भगवान् के सामने रखकर दस मिनट बैठना चाहिए या आधा घण्टा, इस प्रकार के विचार-विमर्श का नाम कर्म नहीं है, यह तो पागलपन है। लाखों रुपये खर्च कर काशी तथा वृन्दावन के मन्दिरों के कपाट खुलते और बन्द होते हैं। कहीं ठाकुर जी वस्त्र बदल रहे हैं, तो कहीं भोजन अथवा और कुछ कर रहे हैं, जिसका ठीक ठीक तात्पर्य हम नहीं समझ पाते,...किन्तु दूसरी ओर जीवित ठाकुर भोजन तथा विद्या के बिना मरे जा रहे हैं!...लोग खटमलों के लिए अस्पताल बनवा रहे हैं, किन्तु मनुष्यों की ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं है--चाहे वे मर ही क्यों न जायँ। तुम लोगों में इन बातों को समझने तक की भी बुद्धि नहीं है, यह हमारे देश के लिए प्लेग के समान है, और पूरे देश में पागलों का अड्डा।...

तुम लोग अग्नि की तरह चारों ओर फैल जाओ और उस विराट् की उपासना का प्रचार करो--जो कि कभी हमारे देश में नहीं हुआ है। लोगों के साथ विवाद करने से काम न होगा, सबसे मिलकर चलना पड़ेगा।...

गाँव गाँव तथा घर घर में जाकर भावों का प्रचार

करो, तभी यथार्थ में कर्म का अनुष्ठान होगा; अन्यथा चुपचाप चारपाई पर पड़े रहना तथा बीच बीच में घण्टा हिलाना--स्पष्टतया यह तो एक प्रकार का रोगविशेष है।...स्वतन्त्र बनो, स्वतन्त्र बुद्धि से काम लेना सीखो--अन्यथा अमुक तन्त्र के अमुक अध्याय में घण्टे की लम्बाई का जो उल्लेख है, उससे हमें क्या लाभ? प्रभु की इच्छा से लाखों तन्त्र, वेद, पुराणादि सब कुछ तुम्हारी वाणी से अपने आप निःसृत होंगे।...यदि कुछ करके दिखा सको, एक वर्ष के अन्दर यदि भारत के विभिन्न स्थलों में दो-चार हजार शिष्य बना सको, तब मैं तुम्हारी बहादुरी समझूँगा।...

क्या तुम उस छोकरे को जानते हो, जो कि सर मुड़ाकर तारक दादा के साथ बम्बई से रामेश्वर गया है? वह अपने को श्री रामकृष्ण देव का शिष्य बतलाता है। तारक दादा उसे दीक्षा दे।...उसने न तो कभी अपने जीवन में उनको देखा और न सुना ही--फिर भी शिष्य! वाह रे धृष्टता! गुरु-परम्परा के विना कोई भी कार्य नहीं हो सकता--क्या यह बच्चों का खेल है? वैसे ही शिष्य हो गया--मूर्ख! यदि वह कायदे से न चले, तो उसे निकाल बाहर करो। गुरु-परम्परा अर्थात् जो शक्ति गुरु से शिष्य में आती है तथा उनसे उनके शिष्यों में संक्रमित होती है--उसके विना कुछ भी नहीं हो सकता। वैसे ही अपने को श्री रामकृष्ण देव का शिष्य कह देना--क्या यह तमाशा है? जगमोहन ने पहले

मुझसे कहा था कि एक व्यक्ति अपने को मेरा गुरुभाई बतलाता है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही छोकरा है। अपने को गुरुभाई कहता है, क्योंकि शिष्य कहने में लज्जा आती है। एकदम गुरु बनना चाहता है! यदि उसका आचरण ठीक न हो, तो उसे अलग कर देना।

किसी कार्य का न होना ही सुबोध तथा तुलसी की मानसिक अशान्ति का कारण है।...गाँव गाँव तथा घर घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में आत्मनियोग करो, जिससे कि जगत् का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े परन्तु दूसरों की मुक्ति हो। मुझे अपनी मुक्ति की चिन्ता नहीं है। जब तुम अपने लिए सोचने लगोगे, तभी मानसिक अशान्ति आकर उपस्थित होगी। मेरे बच्चे, तुम्हें शान्ति की क्या आवश्यकता है, जब तुम सब छोड़ चुके हो? आओ, अब शान्ति तथा मुक्ति की अभिलाषा को भी त्याग दो। किसी प्रकार की चिन्ता अवशिष्ट न रहने पाये; स्वर्ग-नरक, भक्ति अथवा मुक्ति--किसी चीज की परवाह न करो। और आओ, मेरे बच्चे, घर घर जाकर भगवन्नाम का प्रचार करो। दूसरों की भलाई से ही अपनी भलाई होती है, अपनी मुक्ति तथा भक्ति भी दूसरों की मुक्ति तथा भक्ति से ही सम्भव है, अतः उसी में संलग्न हो जाओ, तन्मय रहो तथा उन्मत्त बनो। जैसे कि श्री रामकृष्ण देव तुमसे प्रीति करते थे, मैं तुमसे प्रीति करता हूँ; आओ, वैसे ही तुम भी जगत् से प्रीति करो।

सबको एकत्र करो, गुणनिधि कहाँ है ? उसे अपने पास बुलाओ। उससे मेरी अनन्त प्रीति कहना। गुप्त कहाँ है ? यदि वह आना चाहे, तो आने दो। मेरे नाम से उसे अपने पास बुलाओ। निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखो--

१. हम लोग संन्यासी हैं, भक्ति तथा भुक्ति-मुक्ति, सब कुछ हमारे लिए त्याज्य है।

२. जगत् का कल्याण करना, प्राणिमात्र का कल्याण करना हमारा व्रत है, चाहे उससे मुक्ति मिले अथवा नरक, स्वीकार करो।

३. जगत् के कल्याण के लिए श्री रामकृष्ण परमहंस देव का आविर्भाव हुआ था। अपनी अपनी भावनानुसार उनको तुम मनुष्य, ईश्वर, अवतार--जो कुछ कहना चाहो--कह सकते हो।

४. जो कोई उनको प्रणाम करेगा, तत्काल ही वह स्वर्ण बन जायगा। इस सन्देश को लेकर तुम घर घर जाओ तो सही--देखोगे कि तुम्हारी सारी अशान्ति दूर हो गयी है। डरने की जरूरत नहीं--डरने का कारण ही कहाँ है ? तुम्हारी कोई आकांक्षा तो है नहीं--अब तक तुमने उनके नाम तथा अपने चरित्र का जो प्रचार किया है, वह ठीक है; अब संगठित होकर प्रचार करो, प्रभु तुम्हारे साथ हैं, डरने की कोई बात नहीं।

चाहे मैं मर जाऊँ या जीवित रहूँ, भारत लौटूँ या न लौटूँ, तुम लोग प्रेम का प्रचार करते रहो। प्रेम जो

बन्धनरहित है। गुप्त को इस कार्य में जुटा दो। किन्तु यह याद रखना कि दूसरों को मारने के लिए अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता है। 'सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति'--'मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तब सत्कार्य के लिए प्राणत्याग करना ही श्रेय है।'

प्रेमपूर्वक तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च:--पहली चिट्‌ठी की बात याद रखना--पुरुष तथा नारी दोनों ही आवश्यक हैं। आत्मा में नारी-पुरुष का कोई भेद नहीं है; परमहंस देव को अवतार मात्र कह देने से ही काम न चलेगा, शक्ति का विकास आवश्यक है। गौरी-माँ, योगिन-माँ एवं गोलाप-माँ कहाँ हैं? हजारों की संख्या में पुरुष तथा नारी चाहिए, जो अग्नि की तरह हिमालय से कन्याकुमारी तथा उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक तमाम दुनिया में फैल जायँगे। यह बच्चों का खेल नहीं है और न उसके लिए समय ही है। जो बच्चों का खेल खेलना चाहते हैं, उन्हें इसी समय पृथक् हो जाना चाहिए, नहीं तो आगे उनके लिए बड़ी विपत्ति खड़ी हो जायगी। हमें संगठन चाहिए, आलस्य को दूर कर दो। फैलो! फैलो! अग्नि की तरह चारों ओर फैल जाओ। मुझ पर भरोसा न रखो, चाहे मैं मर जाऊँ अथवा जीवित रहूँ--तुम लोग प्रचार करते रहो।

विवेकानन्द

*

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

सन्तान के न खाने से माँ के मुँह में कुछ जाता नहीं ! दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में एक दिन तीसरे पहर एक ब्राह्मण युवक अपने हाथ से खिचड़ी पकाकर उपवास से क्षीण हुई दो निष्ठावान् प्रौढ़ा ब्राह्मण-विधवाओं को परोसकर खिला रहा था। बहुत से दर्शनार्थी कुतूहल के वश हो यह पकाना-खिलाना देखते रहे। बाद में उनमें एक जिज्ञासा जगी कि वह युवक इन दोनों विधवाओं में किसका पुत्र है। युवक दोनों को ही 'माँ' कहकर परम श्रद्धा और स्नेह के साथ खिला रहा था। एक अल्प वय की बालविधवा इस सम्बन्ध में जब पूछ बैठी, तो साथ की अधेड़ महिला ने तीव्र स्वर में उत्तर दिया, "आँखें नहीं हैं ? देखती नहीं ? जिसकी पत्तल में पड़ते ही जो गपागप खाने लगी, उसके पेट का बच्चा वह हो ही नहीं सकता। और जो पत्तल में खिचड़ी ले बेटे के मुँह को ताकती बैठी रही, लड़के के खाने पर तब मुँह में जिसने खिचड़ी दी, उसी के पेट का बच्चा है !"

हमारी जगज्जननी के पास रहने से ऐसी घटना नित्य ही देखने को मिलती थी। भक्तिमार्ग का अवलम्बन करनेवाले, त्रिगुणातीत महापुरुष नागमहाशय माँ के घर आये। कहा जा सकता है कि उन्हें बाह्य चेतना नहीं सी थी, मुँह से अस्पष्ट 'माँ माँ' का रव निकल रहा था। माँ भोजन करने बैठी थीं। खबर पाकर उन्हें अपने समीप

बुलवाया और पास बिठाकर अपने हाथ से अपनी थाली से खिलाने लगीं। पुत्र तृप्त हुआ, इतने दिनों की साध आज पूरी हुई। दीनता की प्रतिमूर्ति श्री दुर्गाचरण नाग, जो साधारण से साधारण व्यक्ति को भी भोजन कराते समय हाथ से पंखा झलते हैं अथवा दोनों हाथ जोड़कर कुछ दूर खड़े हो विनम्र स्वर से मनुहार करके भोजन कराते हैं, आज किसकी थाली से, किसके हाथ से भोजन कर रहे हैं! भोजन के उपरान्त विदा लेते समय लोगों नें उन्हें हृदय के आवेग में बोलते सुना--"बाप की बजाय माँ दयालु हैं! बाप की बजाय माँ दयालु हैं!!"

बच्चे यह सर्वदा अनुभव करते हैं कि बाप की बजाय माँ दयालु है। तभी तो पिता की डाँट खाने पर वे दौड़-कर माँ के आँचल में अपने को छिपा लेते हैं। दक्षिणेश्वर में ठाकुर भावी संन्यासियों के जीवन को कठोरता की आँच में पकाने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे उन लोगों से रात में कम रोटियाँ खाने के लिए कहते हैं। जवान लड़कें, दिन भर काम-काज में लगे रहते हैं। खाने के समय माँ जान लेती हैं कि बच्चे का पेट नहीं भरा। वे स्नेह से भरपेट भोजन करा देती हैं। ठाकुर को बात मालूम पड़ी, तो माँ से इस सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हैं। पर माँ उनसे स्पष्ट कह देती हैं कि लड़कों के भोजन के बारे में हस्तक्षेप नहीं चलेगा। जब ठाकुर ने अपने मत का समर्थन करना चाहा कि ज्यादा खाने से भविष्य में उनकी उन्नति में बाधा पड़ेगी, तो माँ ने उत्तर दिया,

"अपने लड़कों का भविष्य में ही देखूँगी, उसके सम्बन्ध में कोई डर नहीं।"

माँ एक ओर जैसे अपनी सन्तानों को भगवद्भजन और जप-ध्यान करने के लिए उत्साहित करतीं, वैसे ही दूसरी ओर उन्हें इस बात के लिए सावधान भी कर देतीं कि अनावश्यक रूप से वे लोग साधना का अतिरेक करके सिर गरम न कर लें। वे अत्यधिक कठोरता करने से मना करतीं, साथ ही भोजन-वसन में संयम का अभाव और विलासिता भो पसन्द न करतीं। श्री ठाकुर की महासमाधि के पश्चात् उनकी संन्यासी-सन्तानों का रहन-सहन, अभाव-तंगी, दुःख-कष्ट--यह सब माँ के मन में घोर दुःख का कारण बना था। बोधगया मठ के ऐश्वर्य और भिक्षुओं की सुख-सुविधा को देख वे अपनी असहाय परिव्राजक सन्तानों की बात सोच आकुल हो रो पड़ी थीं। तभी तो पूजनीया योगेन-माँ ने एक दिन हमसे कहा था, "जो कुछ (मठ-आश्रमादि) देख रहे हो, सब (माँ को दिखाकर) उनकी कृपा से हुआ है! जहाँ जो देखा--सिल-लोढ़ा जो कुछ (देवविग्रह) देखा, रो-रोकर कहतीं, 'ठाकुर! मेरे बच्चों के लिए सिर टेकने की जगह कर दो, दो रोटी खा सकें इसका उपाय कर दो।' माँ की वह इच्छा पूरी हुई है।"

माँ जैसे सन्तानों के लिए सोचकर व्याकुल होतीं, वैसे ही सन्तानें भी माँ के लिए चिन्तामग्न रहतीं। माँ कहाँ रहती हैं, कोई ठीक-ठिकाना नहीं--आज यहाँ, तो

कल वहाँ। संसार की चिर-परिचित सबसे मर्मान्तिक घटना होती है--घरबारहीन असहाय पत्नी और बे-कमाऊ बच्चों को छोड़कर घर के मुखिया का चल बसना। ज्येष्ठ पुत्र नरेन्द्रनाथ संसार में अपने जन्मस्थल से इसी प्रकार का भयानक धक्का खाकर बाहर आये थे और वे गुरु के चरणों में सहारा ले ही रहे थे कि उसी दुर्घटना की पुनरावृत्ति हो गयी। पर यह धक्का झेलना पहले से कहीं कठिन था--वह तो माया का राज्य था, जिसे छोड़ने के लिए वे तैयार ही थे, पर यह तो पारमार्थिक राज्य था, जिसका वरण करने के लिए ही वे आये थे। पूर्वाश्रम के बाधा-विघ्न उन्होंने कुछ काटकर किनारे कर लिये थे, जिससे घर के लोग ही धीरे धीरे अपना रास्ता खोज लेंगे। पर यहाँ तो बात बिलकुल उल्टी हो गयी, गुरुदेव स्वयं उनके ही कन्धों पर सदा के लिए उत्तर-दायित्व सौंप गये। सभी त्याग के राही थे, कौन उनको देखे, सँभाले! ठाकुर के देहत्याग के कुछ दिन बाद ही जब काशीपुर उद्यानभवन को छोड़ना तय कर लिया गया, तो नरेन्द्रनाथ को मन में जबरदस्त धक्का लगा। उन्होंने श्री माँ और गुरुभाइयों के साथ और कुछ दिन इकट्ठा बिताने का प्रस्ताव रखा। करुण स्वर में वे बोले, "माँ का मन अभी शोकमग्न है, कहाँ जायँगी! यह उद्यानभवन कुछ दिनों के लिए और रख लिया जाय, जिससे वे यहीं रह सकें।" पर प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उद्यानभवन छोड़ देना पड़ा। यह निर्णय लिया गया कि

माँ अभी बलराम बाबू के घर जाकर रहेंगी। माँ गाड़ी में बैठकर उद्यानभवन से बाहर आ रही थीं कि दरबान ने रोका; कहा कि मकान का किराया बाकी है। नरेन्द्र-नाथ के मन में इस अपमान की कड़ी चोट लगी, किसी प्रकार समझा-बुझाकर माँ की गाड़ी को छुड़ाया गया। मकान का भाड़ा पटा दिये जाने पर ठाकुर के युवा-भक्त अनाथ बालकों के समान इधर-उधर बिखर गये——कोई अपने घर लौट गया, तो किसी ने दूसरे के घर आश्रय लिया। माँ वृन्दावन चल गयीं, कुछ लोग उनके साथ गये।

श्री ठाकुर के अलौकिक निर्देश से भक्तवर सुरेन्द्र-नाथ की सहायता से वराहनगर में एक किराये का मकान लिया गया और वहाँ सब प्रकार के शारीरिक कष्टों और दुःख-दारिद्रच की उपेक्षा करते हुए नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में नया संन्यासी-दल धीरे धीरे इकट्ठा हुआ और इस प्रकार रामकृष्ण मठ का भित्ति-स्थापन हुआ। माँ लग-भग एक वर्ष वृन्दावन में निवास और तीर्थ-दर्शन के पश्चात् कामारपुकुर में आ, चरम निर्धनता के बीच रहने लगीं। भक्त सन्तानों को जब इसका पता चला, तो वे उन्हें कलकत्ता ले आये। कभी माँ को यहाँ रखा, तो कभी वहाँ——अपना कोई स्थान तो था नहीं। नरेन्द्रनाथ के हृदय में यह दुःख तीर के समान चुभ गया था, तभी तो उनके पत्र में सबसे पहले माँ के लिए अपनी एक जगह बना देने की तीव्र व्याकुलता परिलक्षित होती है। उस ताप का भी एक दिन शमन हुआ। बेलुड़ मठ की जमीन

खरीदने के पश्चात् एक दिन स्वामी विवेकानन्द माँ को उस जमीन पर ले गये और उन्हें नये वस्त्रों से सुसज्जित कर, कुर्सी पर बिठाकर, साष्टांग प्रणाम कर अश्रुपूर्ण नयनों से हाथ जोड़े हुए कहने लगे, "माँ, मेरे सिर पर इतने दिनों तक जो बोझा था, वह आज तुम्हें तुम्हारी अपनी जमीन में ला देने से उतर गया। अब तुम निश्चिन्त हो चारों तरफ घूमो, घूम-फिरकर देखो।" माँ ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सब घूमकर देखा, ठाकुर की पूजा की, भोग निवेदित किया। इतने दिन बाद लड़कों के रहने के लिए एक स्थान हुआ, यह देख वे परम आनन्दित हुईं। माँ बेलुड़ मठ में तो नहीं रहा करती थीं, पर पूजा-पर्व के उपलक्ष मे उनका वहाँ शुभागमन हुआ करता था।

स्मरण हो आता है, 'श्रीरामकृष्ण-पुँथि' के श्रद्धेय लेखक को स्वामी विवेकानन्दजी ने व्यग्र होकर निर्देश दिया था कि 'पुँथि' में ठाकुर के साथ माँ की भी स्तुति करो। उन्होंने कहा था--"शक्ति को छोड़कर भगवान् की उपासना नहीं हो सकती।" तभी तो बाद में 'पुँथि' के लेखक ने जोड़ा--

जय माता श्यामासुता जगज्जननी।
रामकृष्ण - भक्तिदात्री चैतन्यदायिनी ॥

स्वामीजी ने स्वयं भी अपने रचे ठाकुर के आरती-श्लोक में माँ का बीजमंत्र 'ह्रीं' जोड़ दिया। ऐसा लगता है, स्वामी अभेदानन्दजी द्वारा विरचित माँ का अपूर्व स्तोत्र--'प्रकृतिं परमां' इत्यादि—भी उनके प्रति माँ की असीम

कृपा और स्नेह का ही फल है।

कामारपुकुर, जयरामवाटी विभिन्न तीर्थों एवं कलकत्ता के कई स्थानों में सुख-दुःख में कुछ वर्ष बिताकर जब माँ की कृपा से ही उद्‌बोधन का भवन निर्मित हुआ, तो माँ की सन्तानों की एक बड़ी चिन्ता दूर हुई। उद्‌बोधन का भवन भले ही छोटा था, पर शरत् महाराज ने ऋण का बोझा सिर पर लेकर उसे सुन्दर और माँ के स्वतंत्र निवास के लायक बनाने में कोई कोर-कसर न रखी। गंगा अधिक दूर नहीं थी, रोज उसमें स्नान किया जा सकता था। छत पर से बेलुड़ और दक्षिणेश्वर के दर्शन हो जाते थे। 'बलराम-मन्दिर' तथा योगेन-माँ एवं गोलाप-माँ के मकान यहाँ से अधिक दूर नहीं थे। फिर आसपास और भी भक्तों का निवास था। ऐसा लगता है कि उद्‌बोधन के ऋण की बात माँ के लिए अजाना नहीं थी; सम्भवतः उसके लिए उनके मन में कुछ चिन्ता भी थी। पर शीघ्र ही उनकी कृपा से इस चिन्ता ने एक सुचिन्तन की राह प्रशस्त कर दी।

उस समय श्री ठाकुर के जीवन और उपदेशों ने समूचे देश में एक प्रबल हलचल पैदा कर दी थी। स्वामी विवेकानन्द की पश्चिमी देशों की विजय और उनके प्रचार तथा स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप लोगों का धर्म के प्रति खिंचाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। समाज यह भी क्रमशः समझ रहा था कि इस नवयुग के उन्मेष के मूलकेन्द्र भगवान् श्रीरामकृष्ण हैं। तथापि भगवान् की इस नव-

लीला के रहस्य को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण चारों ओर विचित्र और अजीबोगरीब दन्तकथाएँ फैलने लगी थीं। पूजनीय शरत् महाराज नाना प्रकार के लोगों से, और विशेषकर प्रगतिशील युवकों से अच्छी तरह परिचित थे। अतः लगता है कि उनके लिए यह कुछ भी छिपा न था और वे उस सबका प्रतिकार करने की बात पर विचार कर रहे थे। माँ के इस मकान के ऋण को चुकाने की चिन्ता करते करते उन्होंने 'श्री श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' के नाम से श्री ठाकुर की व्याख्यापरक जीवनी लिखना प्रारम्भ किया। रचना के प्रारम्भ को देखकर लगता है कि पहले सम्पूर्ण जीवन की चर्चा करना उनका अभीष्ट नहीं था, वे तो उन्हीं बातों को अपने विश्लेषण के दायरे में लाना चाहते थे, जिन्हें लेकर मन में संशय उठा करते हैं। पर जब रचना जनसाधारण को बड़ी प्रिय होने लगी, तो क्रमशः लगभग सारी जीवनलीला ही प्रकाशित हो गयी। ग्रन्थ की प्रचुर बिक्री हुई। इससे भवन-निर्माण के लिए जो ऋण लिया गया था, वह चुका दिया गया। सर्वोपरि, श्री ठाकुर का लीला-रहस्य, जीव, जगत्, ईश्वर का स्वरूप तत्त्व, साध्य एवं साधना-प्रणाली, वर्तमान युग-प्रयोजन, अवतार का आविर्भाव, मनुष्य जीवन का उद्देश्य, आदर्श मानव-समाज का लक्ष्य, कर्तव्य-निर्णय जैसे दुरूह विषयों का समुचित समाधान पाकर पाठकों का हृदय पुलकित हो उठा। श्री ठाकुर की महिमा का प्रचार बढ़ चला।

माँ, तुम किस प्रकार क्या करती हो, कौन समझ सकता है ? उद्‌बोधन कार्यालय (जो 'श्री माँ की बाड़ी' के नाम से भी परिचित है) में श्री माँ के रहने के लिए एक विचित्र समावेश हुआ था ! मठ, मन्दिर, पुस्तकालय, संन्यासाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम-- फिर पुरुषमठ और स्त्रीमठ सब एक ही साथ ! मकान छोटा था, पर वहाँ के प्रधान कर्ता पूजनीय शरत् महाराज नीचे की मंजिल के एक छोटे से कमरे में बैठकर एकाग्र मन से कितना काम करते रहते थे, इसकी कोई सीमा नहीं। फिर इसी के साथ उनकी सजग दृष्टि--कौन आता है, कौन जाता है, कौन क्या करता है यह सब देखना ! नया आगन्तुक देखते ही मीठे स्वर में पूछते, उसके प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देते, माँ के दर्शनार्थियों और कृपाप्रार्थियों के लिए समुचित व्यवस्था करते। और भी कितने लोग कितने कामों से उनके पास आते। फिर, रामकृष्ण मिशन के कर्णधार--उसके सेक्रेटरी--होने के नाते कितनी कितनी झंझटें रहतीं, पर वे यहीं बैठकर इन झंझटों को सुलझाते और 'लीलाप्रसंग' लिखते। इस स्थितप्रज्ञ महा-पुरुष की सांसारिक अभिज्ञता, व्यवहार-कुशलता और कार्यपटुता देखकर मन असन्दिग्ध रूप से समझ लेता है कि अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर कर्म करने से वह कैसे सर्वांगसम्पूर्ण होता है।

उद्‌बोधन माँ का घर है, उन्हीं की सेवा में सभी तत्पर रहते हैं। पर माँ की सेवा की आवश्यकता नगण्य है, बल्कि

वे ही यहाँ के दैनिक कार्यों में यथाशक्ति सहायता देती हैं। श्रीठाकुर की सेवा-पूजा, सन्तानों को प्रसाद देना, पान सजाना——यह सब उन्हीं का काम है। वे काम करते रहना ही पसन्द करतीं; कहतीं, बिना काम-काज के कहीं रहने से वह दूसरे का घर हो जाता है; फिर श्रीठाकुर और उनके भक्तों की सेवा तो बड़े सौभाग्य की बात है। दूसरी ओर, माँ पर सभी अपना जोर चलाते, उन्हें हरदम कितनी शिकायतों का फैसला करना पड़ता, कितने दग्ध हृदयों को अपनी स्नेह-कृपा बरसाकर शीतल करना पड़ता। फिर इस सबके ऊपर राधी के मन को रखना पड़ता। फिर बड़े मामा की मातृहीना दो लड़कियाँ——नलिनी और माकू, माँ की ये दोनों भतीजियाँ माँ की ममता की छाया में पली थीं। विवाह हो जाने पर भी ये दोनों माँ के ही साथ रहती थीं। माँ को इनकी भी देखरेख करनी पड़ती। पर उन्हें सबसे अधिक परेशान राधी और उसकी पगली माँ को लेकर होना पड़ता था। माँ असीम धैर्यपूर्वक सबकी यथोचित व्यवस्था करतीं। गोलाप-माँ और योगेन-माँ तो पुरानी भक्त-महिलाएँ थीं। वे भले ही माँ की सेविकाएँ थीं, पर उनकी सुविधा-असुविधा की ओर भी माँ की तीक्ष्ण दृष्टि रहती। वे सदा इस प्रयास में रहतीं कि उन्हें कोई कष्ट या असुविधा न हो।

उद्बोधन में रहनेवाले संन्यासी-ब्रह्मचारीगण विभिन्न रुचि और स्वभाव वाले थे, पर सभी माँ की सन्तान होने के नाते उनके स्नेह के समान अधिकारी थे।

माँ को उन सभी के भोजन-वस्त्र और सुख-सुविधा की चिन्ता रहा करती। इस सम्बन्ध में एक घटना का स्मरण हो आता है। उद्‌बोधन के डाक्टर महाराज--पूर्णानन्दजी--रात में किसी किसी दिन भोजन की पंगत में समय पर नहीं आ पाते थे, इसलिए उन्हें फटकार भी सहनी पड़ती थी। एक दिन उन्हें बड़ा ही विलम्ब हो गया, इस कारण उन्हें फटकार भी खूब कड़ी मिली। यह देख माँ ने उन्हें अकेले में बुलाकर स्नेहपूर्वक देर से आने का कारण पूछा। माँ की करुणा देख वे रो पड़े और आँसू बहाते हुए बोले, "राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) का आदेश है--'नित्य दस हजार जप करना, संख्या का ठीक ख्याल रखना और गलती होने पर शुरू से पुनः जप करना। संख्या में भूल होनें पर जप का फल राक्षस खा लेता है।'" राक्षस के खाने की बात सुन माँ हँस पड़ीं और बोलीं, "बेटा! तुम लोग बच्चे हो, मन चंचल है, एकाग्र चित्त से जप करने के लिए ही राखाल ने ऐसा कहा है। देखो बेटे! मैं कह रही हूँ, भोजन का घण्टा बजते ही ठीक समय पर खाने के लिए चले आना, जप की संख्या यदि पूरी न भी हो, तो भी कोई दोष न होगा। बाद में फिर से सुविधानुसार तुम जप कर सकते हो।" माँ का सहारा पाकर सन्तान का भय दूर हुआ और वे ठीक समय पर भोजन के लिए आने लगे।

उद्‌बोधन के कर्मचारी, चाहे नौकर हों या रसोइया,

सभी माँ की सन्तान थ--माँ के स्नेह के समान अधिकारी थे। उन सबके लिए भी माँ उसी प्रकार चिन्ता करती थीं। स्व० चन्द्रमोहन दत्त उद्बोधन में काम करते थे। वे कलकत्ते की गलियों में नौकरी की तलाश में भूखे-प्यासे भटक रहे थे कि सौभाग्य से उन्हें उद्बोधन में काम मिल गया। वेतन सामान्य मिलता, उनके परिवार के लोग पूर्व बंग में रहते, उनका भरण-पोषण करना पड़ता। तंगी से ही दिन गुजर रहे थे। धीरे धीरे वे माँ की स्नेह-पूर्ण कृपा के अधिकारी बने, आवश्यकतानुसार वे माँ का छोटा-बड़ा काम कर दिया करते। माँ भी उनसे स्नेह करतीं, पेट भर अच्छा प्रसाद खिलातीं। धीरे धीरे चन्द्र-बाबू के दिन फिरे। उद्बोधन की पुस्तकों को बेचकर वे ऊपर से और कुछ कमा लेते। ऐसे समय समाचार आया कि कीर्तिनाशा पद्मा नदी में सर्वनाशी बाढ़ आयी है और चन्द्रबाबू का घर-मकान सब कुछ उस बाढ़ में नष्ट हो गया है। सिर टेकने को भी कोई जगह नहीं रही, सगे-सम्बन्धी रास्ते पर आ बैठे। यह सुन चन्द्र का सिर चक्कर खा गया। कुछ समझ न सके कि क्या किया जाय। भूख-नींद जाती रही। लगा कि वे पागल हो जायँगे। माँ अपनी प्रिय सन्तान चन्द्र की विपत्ति को जान बड़ी दुःखित हुईं। उन्होंने अकेले में चन्द्र को बुलाया और कहीं से इकट्ठे किये गये तीन सौ रुपये चन्द्र के हाथ में देकर वे स्नेह-भरे स्वर से बोलीं, "देश चले जाओ और उनकी एक व्यवस्था कर आओ।"

माँ का शुभ आशीर्वाद पाकर डूबते चन्द्र को किनारा मिला। वे देश जाकर, नयी जमीन खरीदकर अपने रिश्ते-दारों को फिर से घर में रखकर आये। चन्द्रबाबू ने माँ की इस अहैतुक कृपा की बात भक्ति-भरे चित्त से, भाव-रुद्ध कण्ठ से हमें बहुत बार सुनायी है। इस प्रकार की कितनी विचित्र घटनाएँ उद्‌बोधन में घटा करतीं, इसकी कोई संख्या नहीं। विभिन्न भाव और विभिन्न स्वभाव वाले अनेकों सन्तानों को स्नेह-पाश में बाँधकर, उद्‌बो-धन के उस छोटी सी जगह वाले मकान में माँ ने जो एक अद्‌भुत माहौल खड़ा किया था, उसे देखकर लगता था कि हे 'सर्वस्य हृदि संस्थिते' महामाया ! इस विशाल वैचित्र्यपूर्ण जगत् को, जहाँ दो वस्तुओं में कोई समानता नहीं दिखती, व्यवस्थित रूप से चलाना तुम्हारे ही द्वारा सम्भव है !

उद्‌बोधन में रहने से माँ को शारीरिक श्रम कम ही करना पड़ता था। संसार की जिम्मेदारियाँ वहाँ कम होने से मन भी हल्का रहता। फिर, अन्तरंग सन्तानों द्वारा सेवा और सुख-सुविधा का ख्याल किया जाता, भोजन-आवास का प्रबन्ध भी ठीक होता। स्थान और जलवायु अच्छी होने से स्वास्थ्य भी ठीक रहता। उधर जयरामवाटी में सब प्रकार की असुविधा थी, कष्ट था; उसके ऊपर फिर मलेरिया का प्रकोप। फलस्वरूप वहाँ स्वास्थ्य ठीक न रहता और कुछ ही दिनों में शरीर टूट जाता। देहधारी मात्र यह चाहता है कि उसका

शरीर आराम और सुख से रहे। पर माँ का मन अपने शरीर के आराम आदि के प्रति सर्वथा उदासीन रहता। वे तो बस सन्तानों की सुविधा और आराम ही देखा करतीं। इसीलिए माँ असुविधा और कष्ट के बावजूद जयरामवाटी में ही रहना पसन्द करतीं। वहाँ रहने से जैसे एक ओर दूर से आये भक्तों को माँ के दर्शन की अधिक सुविधा प्राप्त होती, वैसे ही दूसरी ओर माँ भी इन सन्तानों के प्रति इच्छानुसार स्नेह-ममता प्रदर्शित कर पातीं और उनकी सुख-सुविधा का अधिक ख्याल रख पातीं। अन्य और भी कुछ कारणों से माँ गाँव में रहना पसन्द करतीं। वे कारण सम्भवतः ये हैं:--(१) शहर की दबी-घुटी हवा की अपेक्षा गाँव का खुला परिवेश उन्हें अच्छा लगता। (२) उद्‌बोधन में यद्यपि संन्यासी एवं अन्य भक्तगण उनकी सेवा करने के लिए अत्यधिक लालायित रहते, पर माँ किसी पर सहसा कोई भार देना पसन्द नहीं करती थीं। भतीजियों और भाइयों की पत्नियों के साथ उनकी सेवा करना सहज बात नहीं थी, वह सब बड़ी झंझट का काम था; यह सब वे विशेष रूप से सोचा करतीं। (३) श्रीमती राधी कई कारणों से गाँव में ही रहना पसन्द करती और माँ उसे छोड़कर रहना न चाहतीं। राधी को उद्‌बोधन में रखने के लिए महाराज लोगों ने कितनी कोशिशें कीं, उसकी सुविधा के लिए वहाँ एक कमरा अलग रख दिया गया था, जिससे वह अपने पति के साथ वहाँ रह सके। पर तो भी वह

उद्बोधन में रहना पसन्द न करती। सम्भवतः ये ही कारण हो सकते हैं। पर असल कारण तो "इच्छामयी की जैसी इच्छा" ही था !

एक बार माँ जब जयरामवाटी में थीं, उनकी बीमारी का समाचार पा शरत् महाराज चिकित्सक, सेवक-सेविकाएँ, गोलाप-माँ और योगेन-माँ को ले वहाँ उपस्थित हुए। स्वस्थ हो जाने पर उन्हें लेकर कलकत्ता लौटने की इच्छा थी। माँ की बीमारी दूर हुई। महाराज इस प्रयत्न में लगे कि माँ की दुर्बलता दूर हो। एक महीने तक वे रुके रहे। माँ बहुत कुछ स्वस्थ हो गयीं, पर कलकत्ता जाने का मन न था। मन की बात समझकर शरत् महाराज भी मौन थे, कुछ कहते न थे। पर योगेन-माँ अधीर हो उठीं। उन्होंने शिकायत के स्वर में शरत् महाराज से कहा, "कहो शरत्, तुमने तो कहा था कि माँ से कलकत्ता चलने का आग्रह करोगे। पर तुमने उनसे कहाँ कहा ?' शरत् महाराज सिर झुकाकर मौन ही बने रहे। योगेन-माँ ने जब उन्हें बारम्बार तंग किया, तो वे अत्यन्त धीमे स्वर से बोले, "जब उनकी जाने की इच्छा ही नहीं है, तो फिर बोलकर क्या होगा ?" अन्य एक दिन जब गोलाप-माँ ने उनसे कहा कि जयरामवाटी में तरह तरह की असुविधाएँ हैं, यहाँ माँ का स्वास्थ्य सुधरना सम्भव नहीं होगा, तो इस पर उन्होंने कुछ क्षण चुप रहकर गम्भीर और करुण स्वर में उत्तर दिया, "उनकी यदि यहीं प्राण छोड़ने की इच्छा हो, तो उसमें

भला कौन बाधा दे सकता है ?" यह सुन सभी निरुत्तर हो रहे। माँ की महिमा को जानने और समझने वाले ये सब भक्त और ज्ञानी महापुरुष उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते थे। पर हाँ, उनके चरणकमलों में अपनी व्याकुल प्रार्थना वे अवश्य निवेदित कर देते। माँ भी समय देखकर उसे पूरा करतीं। माँ के लड़के अबोध जो हैं, इसीलिए वे बिना संकोच के हृदय की इच्छा व्यक्त कर बैठते हैं। माँ हँसती हैं, कभी सुनती हैं, कभी नहीं सुनतीं, भुलवाकर अन्यमनस्क कर देती हैं।

उस समय बीमारी के कुछ दिन पहले से ही कपिल महाराज जयरामवाटी में थे। वे माँ की बीमारी से बड़े विचलित हुए। वे यथासाध्य माँ की सेवा कर रहे थे। वे माँ के विशेष स्नेहभाजन थे, उद्बोधन में बहुत समय से श्रीचरणों की सेवा का सौभाग्य मिला था। माँ कुछ ठीक हो ही रही थीं कि वे माँ से बारम्बार कलकत्ता चलने का आग्रह करने लगे। पर माँ उनकी बात को अनसुना कर देतीं, दूसरों से कहतीं, "वे लोग तो हैं नागा संन्यासी के दल के, उठो कहने से उठ खड़े हुए, बैठो कहने से बैठ पड़े, न कोई चिन्ता न सोच; कन्धे पर कम्बल डाला और चल पड़े। पर मैं क्या ऐसा कर सकती हूँ ? मुझे कितनी बातें सोचकर काम करना पड़ता है, जिससे किसी को कोई परेशानी न हो।" शरत् महाराज के लौट जाने के पश्चात् भी और कुछ समय तक अतीव आनन्दपूर्वक माँ के स्नेह का आस्वादन करके कपिल

महाराज जयरामवाटी से वापस लौटे। माँ कलकत्ता नहीं गयीं। स्वस्थ होने के कुछ समय उपरान्त माँ कोयालपाड़ा के भक्तों के आग्रह पर वहाँ गयीं और जगदम्बाश्रम में रहकर आनन्द का स्रोत प्रवाहित कर दिया। पर भक्तों का वह आनन्द अधिक दिन न रहा, माँ पुनः मलेरिया की शिकार हो गयीं। फिर से कलकत्ते से पहले चिकित्सक और सेवक आये, फिर शरत् महाराज आये और योगेन-माँ भी आयीं। माँ स्वस्थ हो जयरामवाटी लौटते ही बोलीं, "अब इस बार बिना गये काम नहीं चलेगा। बार बार वे लोग इतना कष्ट सहकर आते हैं और मैं न जाऊँ, तो क्या यह शोभा देता है ?" शरत् महाराज माँ का मनोभाव जानकर निश्चिन्त हुए और प्रणाम करते समय आनन्दित मन से बोले, "अबकी बार माँ, आपको यहाँ छोड़कर नहीं जाऊँगा।" माँ भी प्रसन्न होकर धीरे धीरे बोलीं, "हाँ बेटा ! शुभ दिन देख लो, तुम लोगों के साथ शीघ्र ही चली चलूँगी।"

(क्रमशः)

जैसे साँप अपनी केंचुली से अलग है, वैसे ही शरीर से आत्मा भी भिन्न है।

—श्रीरामकृष्ण

आध्यात्मिक प्रगति के उपाय

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

आध्यात्मिक प्रगति के विधेयात्मक उपाय

यहाँ हम अब आध्यात्मिक प्रगति के विधेयात्मक उपायों पर चर्चा करेंगे।

कहना न होगा कि आध्यात्मिक प्रगति कहने से यह बोध होता है कि आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ हो गया है। आध्यात्मिक जीवन कैसे प्रारम्भ होता है? हर साधक के आध्यात्मिक जीवन का ज्ञानपूर्वक आरम्भ दूसरे से भिन्न हो सकता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन के इन भिन्न भिन्न प्रारम्भों के पीछे एक सामान्य नियम है।

ऐसा प्रारम्भ जन्म लेता है आन्तरिक अभाव की अनुभूति से, जो जीवन के विभिन्न अनुभवों के परिणाम-स्वरूप हो सकती है। वह अभाव ऐसा होता है, जिसे इस दृश्यमान जगत् की कोई वस्तु मिटा नहीं पाती। यह आत्म-साक्षात्कार के लिए जीव की जागी हुई भूख है। भौतिक समृद्धि के बावजूद यह मनुष्य को संसार के खोखले-पन का भयावह अनुभव कराती है। फलस्वरूप वह अज्ञात के अनजान पथ पर जीवन का नया आधार ढूँढ़ने के लिए विवश होता है।

स्वामी विवेकानन्द उपदेश देते हैं:—

"सबसे प्रमुख बात है ईश्वर को चाहना। यह संसार हमारी साधारण माँगों की पूर्ति कर देता है, इसलिए

ईश्वर को छोड़ हम बाकी सब चाहते हैं; और जब हमारी आवश्यकता इस भौतिक संसार के परे हो जाती है, तभी हम अपने अन्तर में ईश्वर की ओर अभिमुख होते हैं। जब तक हमारी आवश्यकताएँ इस भौतिक संसार की क्षुद्र सीमाओं में ही बँधी रहेंगी, तब तक ईश्वर की चाह नहीं होगी। जब आवश्यकता होगी, तभी माँग पैदा होगी। बच्चों के खेल जैसे इस संसार के प्रति जब तुम आसक्ति छोड़ इसके परे किसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करोगे, तब समझो कि अध्यात्म का पहला कदम उठा है।"

इस प्रकार की आन्तरिक अवस्था में मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए इस विश्वास पर कायम रहना जरूरी है कि इस बाह्य जगत् के पीछे कोई अगोचर सत्ता विद्यमान है, जो इस बाह्य जगत् का धारण और पोषण करती है। देह के भीतर देह से परे कुछ है, जो मन और देह दोनों को चलाता है।

यही प्रबल आन्तरिक माँग अन्त में हममें ऐसा विश्वास पैदा करती है कि ईश्वर हैं और उनके दर्शन से तथा उनमें एवं उनके लिए ही जीने से जीवन अपने उद्देश्य और पूर्णता को पा सकता है। साथ ही ऐसा भी निश्चय होता है कि चूँकि अन्य लोगों ने उनके दर्शन किये हैं, इसलिए उनके दर्शन पाने का कोई मार्ग जरूर होगा।

प्रारम्भ में यह विश्वास बहुत कुछ वैसा ही हो सकता है, जिसे 'अन्धविश्वास' कहते हैं, क्योंकि बिना देखे 'दिखनेवाला विश्वास' नहीं हो सकता। आध्यात्मिक

जीवन के प्रारम्भ में हमें एक कामचलाऊ विश्वास की आवश्यकता होती है। सही कहें तो इस प्रकार के कामचलाऊ विश्वास के रखने मात्र से आध्यात्मिक जीवन शुरू नहीं हो जाता, सापेक्ष अर्थ में भी नहीं। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ तभी कहा जायगा, जब हम जीवन के सभी कुटिल तौर-तरीकों से विमुख होते हैं और अच्छाई में आश्रय लेते हैं।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, हमें सदैव यह याद रखना चाहिए कि नैतिकता को ताक में रखकर कोई आध्यात्मिक नहीं हो सकता। इसीलिए सभी धर्म नैतिक अनुशासन सिखलाते हैं। परन्तु यह सम्भव है कि नैतिक रूप से पूर्ण निर्दोष व्यक्ति आध्यात्मिकता में अशिक्षित हो। आध्यात्मिक शिक्षण के लिए निर्दिष्ट मार्ग से भलीभाँति जमीन तैयार करना आवश्यक है।

जिज्ञासु अपने मन में जीवन के अनुशासनों के प्रति रचनात्मक रुझान जागृत कर यह जमीन तैयार करता है। वह जीवन के कुछ अटल सत्यों——यथा, व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु, नियति, कर्म-नियम की कार्यशक्ति——को दार्शनिक रूप से स्वीकार कर अपनी मनःशक्ति का संचय करता है। वह धन, मान या उपलब्धि के अहंकार के पोषण की निरर्थकता और हानि का अनुभव करता है। इससे उसे कुछ हद तक आन्तरिक शान्ति पाने में सहायता मिलती है। वह नैतिक सिद्धान्तों को आचरण में उतारता है और निर्दोष, सजग, अनासक्त, निर्भीक,

स्पष्टवादी, संयमी, ईर्ष्या-द्वेष रहित और आत्मलीन बनने का प्रयास करता है।

अब बाह्य शक्तियाँ आसानी से उसे प्रभावित नहीं कर पातीं। वह अपने आधार पर दृढ़ता से खड़े रहकर अपने विश्वास को प्रबल आन्तरिक शक्ति के रूप में परिवर्तित कर लेता है। विवेक को पक्का करके वह अपने आप को गलत विचार, गलत वाणी या गलत कार्य के पंजे से मुक्त कर लेता है। यहाँ तक कि भय को ही माध्यम वना सभी बुरे विचारों और कर्मों को दूर करते हुए धीरे धीरे निर्भयता को प्राप्त करता है, जो कि यथार्थ में आध्यात्मिक बनने के लिए बहुत आवश्यक गुण है। वह बलपूर्वक असत्य का परित्याग करता है तथा उससे भी अधिक बलपूर्वक सत्य को स्वीकार करता है। अत्र, अन्तर्दृष्टि की विकासोन्मुख शक्ति को और बढ़ाने की स्थिति में होने के कारण वह वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझ पाता है और इस प्रकार दुख और भ्रम की जड़ को काट लेता है।

गुरु का पथ-प्रदर्शन महत्त्वपूर्ण

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी धर्मों और आचार्यों ने नैतिक आचरण पर बहुत जोर दिया है। इसके कारण कुछ लोग नैतिकता को आध्यात्मिकता के समकक्ष मानने लगे हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, कोई व्यक्ति नैतिकता की दृष्टि से कितना भी निर्दोष क्यों न हो, सम्भव है वह अध्यात्म की परिधि पर ही घूम रहा हो और यह

न जानता हो कि अन्दर कैसे प्रवेश किया जाय।

इस युग में जब विश्व के सभी धर्मों के महान् ग्रन्थों के सस्ते संस्करण सरलता से उपलब्ध हैं और जब धर्म की एक दिखाऊ जानकारी रखना फैशन बन गया है, हमें इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन तो सम्भव है, पर धर्मों की तुलनात्मक साधना जैसी कोई बात नहीं हो सकती। जो अपने धर्म में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो गये हैं, उनके लिए विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन बौद्धिक विकास अथवा नैतिक ज्ञानवृद्धि के लिए अच्छा है। पर जैसे दो हवाईजहाजों में एक ही समय में बैठकर किसी जगह जल्दी नहीं पहुँचा जा सकता, उसी प्रकार एक से अधिक धर्मों का एक साथ पालन करने से आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसका अर्थ यह है कि जिस एक धर्म को व्यक्ति स्वीकार करता है, उसके प्रामाणिक शास्त्रों और मान्य सद्गुरुओं द्वारा बतलाये उपदेशों के प्रति पूर्ण समर्पित हो उनका पालन करने से ही आध्यात्मिक प्रगति होती है।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्रगति के निमित्त साधना करने को उत्सुक है, उसके लिए वही धर्म सबसे उपयुक्त है, जिसमें वह पैदा हुआ है। पर ऐसे बहुत से लोग हैं, जो एक प्रकार से किसी भी धर्म में पैदा नहीं हुए हैं। वे या तो नास्तिक माता-पिता की सन्तान हैं, या ऐसे परिवार से हैं, जहाँ धर्म की साधना ही नहीं की जाती।

ऐसे बच्चों को अपने लिए अपने आप धर्म ढूँढ़ना पड़ता है। अथवा ऐसे भी कुछ लोग हो सकते हैं, जो निष्ठा-पूर्वक प्रयत्न करने पर भी उस धर्म से किसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं प्राप्त कर पाते, जिसमें उनको जन्म मिला है। ऐसे समय दूसरे धर्म का चुनाव एक अपरिहार्य आवश्यकता हो सकता है। परन्तु किसी भी अवस्था में यह आवश्यक है कि साधक आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपने अपनाये धर्म द्वारा बतलाये गये नियमों का पालन करे। भले ही वह दूसरे धर्मों को बौद्धिक मान्यता दे और उनके प्रति श्रद्धा रखे, पर उसका भावनात्मक अपनत्व एक ही धर्म के प्रति होना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं :—

"यदि लोग यथार्थ व्याकुलता का अनुभव करें, तो वे पाएँगे कि सभी पथ उसी एक ईश्वर तक पहुँचाते हैं। परन्तु उनमें निष्ठा होनी चाहिए। इसी को ईश्वर के प्रति विशुद्ध और अविचल भक्ति कहते हैं। यह उस वृक्ष के समान है, जिसका एक ही तना हो, जो एकदम ऊँचा उठ गया हो। और अविवेकपूर्ण भक्ति पाँच शाखाओं वाले वृक्ष के समान होती है। गोपियों की कृष्ण के प्रति ऐसी ऐकान्तिक भक्ति थी कि वे शीश पर मोरमुकुट और गले में वैजयन्ती माला से सुशोभित उस वृन्दावन के गोपालकृष्ण को छोड़ अन्य किसी की ओर देखना तक नहीं चाहती थीं। मथुरा में सिर पर पगड़ी पहने हुए राजसी वेशभूषा वाले कृष्ण को देख उन्होंने घूँघट

काढ़ लिया। वे उसकी तरफ नहीं देखना चाहतीं। कहती हैं, 'यह कौन है ? क्या हम इस परपुरुष से बात कर कृष्ण के प्रति अपने पवित्र प्रेम को कलंकित करेंगी ?'

"पत्नी का अपने पति के प्रति जो प्रेम होता है, वह भी अविचल भक्ति का एक उदाहरण है। वह अपने पति के भाइयों की भी अच्छी तरह से सेवा-शुश्रूषा करती है, फिर भी उसका अपने पति से एक विशेष सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार अपने धर्म के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा हो; परन्तु इस कारण दूसरे धर्मों से घृणा न करे। बल्कि उनके प्रति मैत्री का भाव हो।"

ईश्वर के प्रति ऐसी विशुद्ध और अविचल भक्ति रहे बिना कोई आध्यात्मिक जीवन में आगे नहीं बढ़ सकता। फिर साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस अविचल भक्ति को भक्ति के सार तत्त्वों को उद्घाटित करने के लिए पूरी तरह समर्पित होना चाहिए। शास्त्रों के मात्र अध्ययन से विचारों में सुलझापन तो आ सकता है, और कभी भ्रम की भी स्थिति पैदा हो सकती है, पर आध्यात्मिकता में बढ़ने के लिए गहरी पैठ आवश्यक है। एक संन्यासी को उपदेश देते हुए श्रीरामकृष्ण कहते हैं:—

"गहरे डूबो; सतह पर तैरने से मोती नहीं मिलते। ईश्वर निराकार हैं इसमें सन्देह नहीं; परन्तु वे साकार भी हैं। ईश्वर के साकार स्वरूप पर ध्यान करने से भक्ति शीघ्र होती है; तब निराकार ईश्वर पर ध्यान कर सकते हो। यह वैसा ही है, जैसा हम पत्र को पढ़-

कर फेंक देते हैं और फिर उसमें लिखी बातों को पूरा करने में लग जाते हैं।"

श्रीमद्भगवद्गीता (१६/२३-२४) में भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं :--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

--जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को, तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। अतएव तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है ऐसा जानकर तू शास्त्रविधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने के लिए योग्य है।

जीवन के प्रवाह में शास्त्रों के उपदेशों को किस प्रकार उतारें, जिससे जीवन आध्यात्मिक बन जाय, इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं:--

"वेदों के समान अनेक ग्रन्थ हैं। पर बिना तपस्या और साधना के कोई ईश्वर को नही जान सकता। 'ईश्वर न तो षड्दर्शन में मिलते हैं, न वेद में और न तन्त्र में।'

''परन्तु शास्त्रों के मर्म को जरूर जानना चाहिए और उसके बाद उनके अनुसार आचरण करना चाहिए। किसी व्यक्ति का एक पत्र खो गया। उसे याद नहीं रहा कि कहाँ रखा है। दिये की सहायता से वह खोजने लगा।

जब दो-तीन लोगों ने मिलकर खोजा, तब अन्त में मिला। पत्र में लिखा था—'कृपया हमें पांच सेर सन्देश (मिठाई) और पहिनने के वस्त्र भेजें।' पढ़कर उस आदमी ने उस पत्र को फेंक दिया। अब आगे उसकी कोई आवश्यकता न थी; अब उसे पाँच सेर सन्देश और वस्त्र की खरीदी करनी थी।

"पठन से श्रवण अच्छा है और श्रवण से दर्शन। शास्त्रों को गुरु या सन्त पुरुषों के मुख से सुनने से अधिक अच्छी तरह समझ में आता है। तब उनके गौण भागों के सम्बन्ध में नहीं सोचना पड़ता। हनुमान जी ने कहा था, 'भाई, मैं चन्द्रमा की कलाओं या तारों की स्थिति के सम्बन्ध में विशेष नहीं जानता। मैं तो बस श्रीराम का ध्यान करता हूँ।'

"परन्तु श्रवण की अपेक्षा दर्शन कहीं बहुत अच्छा है। तब सारे संशय दूर हो जाते हैं। यह सच है कि शास्त्रों में वहुत सी बातें लिपिबद्ध हैं; परन्तु ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए बिना, उनके श्रीचरणों में भक्ति हुए बिना, हृदय के शुद्ध हुए बिना वे सब कोई काम की नहीं। पंचांग में भविष्यवाणी रहती है कि इस साल इतनी वर्षा होगी। परन्तु पंचांग को दबाने से एक बूँद पानी न निकलेगा। एक बूँद भी नहीं।

"शास्त्रों के विषय पर कब तक विचार करना चाहिए? जब तक कि ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं मिल जाते। भौंरा कब तक गुनगुनाता है? जब तक कि वह फूल पर नहीं बैठ जाता। जैसे ही फूल पर उतरकर उसने मधुपान शुरू किया कि चुप हो जाता है।

"परन्तु तुम्हें एक और बात याद रखनी चाहिए। ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन के बाद भी कोई बात कर सकता है। परन्तु तब वह ईश्वर और परमानन्द की बातें ही करता है। वह मदहोश की 'जय जगन्माता की' पुकार जैसे है। वह नशे के कारण और कुछ नहीं कह पाता। तुम भी ध्यान से सुनने पर देखोगे कि भौंरा फूलों से मधुपान करने के बाद एक अस्पष्ट सी गुनगुनाहट करता रहता है।

"ज्ञानी संसार के सम्बन्ध में 'नेति, नेति' (यह नहीं, यह नहीं) के द्वारा विचार करता है। इस प्रकार विश्लेषण करते करते अन्त में वह परमानन्द को प्राप्त होता है--वही ब्रह्म है। ज्ञानी का स्वभाव कैसा होता है ? वह शास्त्रों में बतलाये निर्देशों के अनुसार वर्तन करता है।"

परन्तु शास्त्रों के निर्देशों के पालन में साधक को एक अड़चन आ सकती है। एक ही धर्म के अन्तर्गत--जैसे हिन्दू धर्म को ले लें--शास्त्र बहुत से हैं और कभी कभी एक शास्त्र के निर्देश दूसरे के निर्देशों के विपरीत रहते हैं। ऐसे में साधक भ्रमित हो जाता है कि किस निर्देश को मानूँ। ऐसी दशा में सद्गुरु के मार्गदर्शन में अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुकूल पथ का चयन करने से इस अड़चन को कम किया जा सकता है। यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि जीवन वस्तुतः क्षणिक और अनिश्चित है तथा अध्यात्म के मार्ग में अनेक आन्तरिक एवं वाह्य वाधाएँ हैं। इसलिए व्यर्थ में भटकते हुए तरह तरह के प्रयोग करके समय नष्ट करने में न कोई उद्देश्य-पूर्ति हो

सकती है और न कोई मतलब ही निकल सकता है। यहीं पर आध्यात्मिक सद्‌गुरु के पथ-प्रदर्शन और सहायता की विशेष आवश्यकता होती है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१४।२) में कहा गया है—'आचार्यवान्पुरुषो वेद'— 'जिसके गुरु है, वह जानता है।' हिन्दू धर्म में गुरु के द्वारा मार्ग बतलाये जाने पर अत्यधिक जोर दिया गया है। यह भी कहा जाता है कि जब जिज्ञासु सचमुच ही गुरु की आवश्यकता महसूस करता है, तो वे स्वयं उसके पास पहुँच जाते हैं।

गुरु के सम्बन्ध में एक भक्त ने श्रीरामकृष्ण देव से पूछा, "महाशय, क्या गुरु का होना आवश्यक है?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, बहुतों को गुरु की आवश्यकता होती है। परन्तु गुरु की बातों पर श्रद्धा होनी चाहिए। वह गुरु में साक्षात् ईश्वर को देखकर आध्यात्मिक जीवन में सफल होता है।..."

एक अन्य समय श्रीरामकृष्ण देव ने उपदेश दिया था :—"सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। यदि किसी मनुष्य ने गुरु के रूप में तुम्हारी आध्यात्मिक चेतना को जगा दिया है, तो निश्चित जानो कि उस पूर्ण परमात्मा ने ही तुम्हारे लिए मनुष्य का वह रूप धारण किया है। गुरु उस साथी के समान हैं, जो हाथ पकड़कर ले चलता है। ईश्वर के साक्षात्कार के बाद गुरु और शिष्य का भेद मिट जाता है।

"सच्चिदानन्द ही गुरु के रूप में हमारे पास आते हैं। यदि कोई मानवगुरु से दीक्षा पाने पर उन्हें मात्र मानव

समझे, तो वह कुछ भी नहीं पा सकता। गुरु को ईश्वर का साक्षात् स्वरूप समझना चाहिए। तभी शिष्य की गुरु से प्राप्त मन्त्र में श्रद्धा हो सकती है। एक बार मनुष्य में विश्वास आया कि उसने सब पा लिया।"

भक्तों के यह पूछने पर कि, "महाशय, उपाय क्या है ?" श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "गुरु की बातों में विश्वास। गुरु के आदेशों का अवस्था-क्रम से पालन करने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है। यह मानो धागे के छोर को पकड़कर लक्ष्य पर पहुँचने के समान है।"

जिज्ञासु इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह पर्याप्त परीक्षण के बाद अपना गुरु चुने। परन्तु किसी मनुष्य को गुरु मान लेने के बाद फिर उसके आदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहिए, जैसा कि ऊपर श्रीरामकृष्ण देव ने निर्देश किया है। अन्यथा उसकी उस मरीज की तरह दुर्दशा होगी, जो चिकित्सक की बतायी दवाइयों के साथ अपने मन से भी दवाई ले लेता है।

साधक को एक से अधिक गुरुओं से आध्यात्मिक निर्देश नहीं लेना चाहिए; यदि भ्रमित होना हो, तो बात दूसरी है। साधक को गुरु से साधना की विधि जान लेनी चाहिए। गुरु केवल मार्ग ही नहीं बतलाते, वरन् बढ़ने में सहायता भी करते हैं। अन्य विषयों में साधक संसार के दूसरे योग्य व्यक्तियों से पूछ सकता है।

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक–स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान – बेलुड़ मठ

१९१६

नियम बनाकर साधन-भजन करना चाहिए। निष्ठा बहुत बड़ी चीज है, निष्ठा न रहने से किसी भी काम में successful (सफल) नहीं हो सकते। निष्ठा ऐसी चाहिए कि जिस किसी भी अवस्था में क्यों न रहूँ, मुझे अपने नियम का पालन करना ही होगा। सभी बातों में एक नियम बना लेना। इतने समय तक ध्यान करूँगा, इतनी बार जप करूँगा, इतने समय तक अध्ययन करूँगा, इतने समय तक सोऊँगा इत्यादि। Irregular life (अनियमित जीवन) होने से किसी भी काम में successful (सफल) नहीं हो सकते। शारीरिक एवं मानसिक development (विकास) का एकमात्र उपाय है regulated life (नियमित जीवन)। घड़ी जब ठीक नहीं चलती, तब उसे regulate (नियमित) कर लेना पड़ता है। Regulate (नियमित) करने से फिर वह ठीक time (समय) देती है। मनुष्य का मन भी वैसा ही है। नाना कारणों से irregular (अनियमित) हो जाता है, साधुसंग करके फिर से उसे regulate (नियमित) करके चलाना होगा। साधु-महापुरुषों के उपदेशानुसार जीवन को चलाने की चेष्टा करने से अनेक बाधा-विघ्नों से बचा जा सकता है। उनके उपदेशानुसार चलने से हम

भी उस वस्तु के अधिकारी होकर अपना जीवन धन्य कर ले सकते हैं, जिसके अधिकारी वे हुए हैं।

भगवान् में मन न लगे, तो इस संसार में स्वयं को बचाकर चलना कठिन है। महामाया कितने खेल खेलती हैं। उनका धक्का सँभालते सँभालते मानो प्राण ही चले जाते हैं। काम, क्रोध, मोह आदि दुर्जय रिपुओं के साथ हरदम लड़ते हुए अपने को बचाये रखना क्या कोई हँसी-खेल है ? उनकी शक्ति से शक्तिमान हुए बिना किसी की हिम्मत नहीं कि माया के इस कटघरे से निकलकर स्वयं को बचाकर चल सके। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ, पहले उनकी शक्ति से शक्तिमान हो जाओ।

जब तक मन control (वश) में नहीं आता, तब तक नियम की विशेष आवश्यकता है। नियम के बिना मन कहीं कुछ न करने देगा, सदैव टालमटोल करेगा। एक नियम बनाकर चलने से मन से जबरदस्ती कहा जा सकता है--'मन ! तुम इस नियम के अधीन हो; अच्छा लगे या न लगे, तुम्हें यह नियम मानना ही होगा।' इसी तरह मन को बलपूर्वक वश में लाना होगा। मन के वश में आ जाने पर सभी नियम आप ही आप खिसक जायँगे।

नदी के स्रोत के समान जीवन बीता जा रहा है। जो दिन बीत गया, वह और वापस नहीं आयगा। समय का सद्व्यवहार करो, आखिर में हाय-हाय करने से कोई फल न निकलेगा। कमर कसकर लग जाओ। या तो

मंत्र की सिद्धि अथवा शरीरपात।" मरना तो होगा ही, दो दिन पहले या बाद में। भगवान् के लिए जीवन यदि चला जाय, तो लाभ ही है, हानि नहीं। हठ करके मन से कहो––'तत्त्व की प्राप्ति करूँगा ही।' इस दुनिया को तुच्छ समझो। क्या यहाँ सुख है? केवल दुःख-कष्ट ही तो है। दुःख-कष्ट के परे चले जाना होगा। प्रभु का आभास मात्र पाने से देहसुख तुच्छ हो जाता है। वह सुख अनन्त है। ठाकुर के दरबार में जब आ गये हो, तब फिर चिन्ता किस बात की? दुनिया की सब वस्तुए फेंक-फाँककर, उन्हें लेकर पड़े रहो।

स्थान – बेलुड़ मठ

१९१६

साधन-भजन में मन जब एक बार बैठ जायगा, तब देखोगे कि कितना आनन्द है उसमें। दिन पर दिन, रात पर रात कैसे बीत जायगी, पता ही न लगेगा।

अपने भीतर का भाव अधिक लोगों के पास प्रकट करना ठीक नहीं, विशेषकर विपरीत रुचिवाले व्यक्तियों के पास। उससे भाव की हानि होती है। जिन लोगों से भाव का मेल है, उनके साथ साधन-भजन सम्बन्धी बात-चीत करने से बड़ा उपकार होता है। सभी एक पथ के पथिक हैं, आपस में एक दूसरे को सहायता दे सकते हैं। एक व्यक्ति जिस पथ से जा रहा है, उसे शायद मालूम हो कि उस पथ में कौन कौन से बाधा-विघ्न आते हैं। उसके पास से वे सब बातें जान लेने से बाधा-विघ्न आनें

की फिर कोई सम्भावना नहीं रहेगी। यह वैसे ही है, जैसे अच्छा guide (पथ-प्रदर्शक) साथ में रहने से रास्ते में जो सब दर्शनीय चीजें हैं, वे सभी देखने में आ जाती हैं, और साथ ही किसी वाधा-विघ्न का सामना नही करना पड़ता--थोड़े समय में सभी काम किये जा सकते हैं, और शीघ्र ही ठिकाने पर भी पहुँच सकते हैं। मनुष्य की बुद्धि की दौड़ भला कहाँ तक? इसीलिए एक अच्छे guide (आचार्य) के साथ रहना आवश्यक है। जीवन अल्प है, और कार्य करने होंगे अनेक। इस अल्प समय में जिससे लक्ष्य तक पहुँच सको इसके लिए विशेष प्रयत्न करना होगा।

इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं--यह दस-बीस वर्ष बाद भी समाप्त हो सकता है या फिर आज ही। जब यह मालूम नहीं कि वह कब समाप्त होगा, तो पथ पर चलने की व्यवस्था जितनी शीघ्र की जा सके, उतना ही अच्छा। कौन जाने कब पुकार आ जाय! अन्त में क्या खाली हाथ लेकर अनजान देश में जाना पड़ेगा? खाली हाथ अनचीन्हे देश में जाने से बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। जब जन्म हुआ है, तो मृत्यु अवश्यमेव होगी। और मृत्यु होने पर एक दूसरे देश में जाना होगा, यह भी सत्य है। जैसे भी हो, पथ पर चलने की व्यवस्था करके तैयार रहो। पुकार आने से हँसते हँसते चले जाना। काम समेटा रहने से फिर कोई भय नहीं रहेगा। मन में निश्चिन्तता रहेगी कि पथ पर चलने की हमारी सारी व्यवस्था ठीक-ठाक है।

सद्भावपूर्वक जीवन बिताने की सदिच्छा जब मन में जगी है, उन्हें जानने और समझने का सुयोग जब प्राप्त हुआ है, तो फिर अच्छी मेहनत करके तत्त्व की प्राप्ति कर लो। खूँटी पकड़ लो। शरीर रहे या जाय, खूँटी को पकड़ ही लेना होगा। स्वयं पर विश्वास रखो। मैं मनुष्य हूँ, मैं सब कर सकता हूँ, ऐसा विश्वास रख आगे बढ़ो; तत्त्व की प्राप्ति कर लोगे, मनुष्य-जीवन सार्थक हो जायगा। आवागमन बड़ा ही कष्टदायक है। आने-जाने का क्रम समाप्त कर डालो। प्रभु के नित्य साथी बन जाओ।

भय और दुर्बलता को मन से दूर फेंक दो। पाप की बात सोचकर मन को कभी भी खराब मत करना। पाप जितना भी बड़ा क्यों न हो, वह मनुष्य की ही दृष्टि में बड़ा है, भगवान् की दृष्टि में वह कुछ भी नहीं है। उनके कृपा-कटाक्ष से कोटि कोटि जन्मों के पाप एक क्षण में कट सकते हैं। लोगों को पाप के पथ से हटाने के लिए ही शास्त्रों में पाप का इतना भय दिखाया गया है। फिर भी, कर्म का फल अवश्यम्भावी है। बुरा काम करने पर मन में अशान्ति पैदा होती है।

⊠

कैकयी की भूल

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

कैकेयीजी का चरित्र बड़ा दुरूह माना जाता रहा है। वैसे 'रामचरित-मानस' में उनके चरित्र की प्रशंसा में अनेक वाक्य कहे गये हैं, पर उनके चरित्र में हम 'धर्माभास' पाते हैं। इस धर्माभास के मूल में प्रवृत्ति कौनसी है? दो माताओं को लें-सुमित्रा अम्बा और कैकेयी अम्बा। अयोध्या के नागरिकों की दृष्टि में कैकेयी अम्बा के प्रेम की बड़ी ख्याति थी और उसकी तुलना में सुमित्रा अम्बा के प्रेम को उतनी प्रसिद्धि न थी। परन्तु जब समय की कसौटी पर दोनों का प्रेम परखा गया, तो दिखायी पड़ा कि कैकेयी अम्बा के प्रेम में निम्नता है, जबकि सुमित्रा अम्बा का प्रेम उत्कृष्टतम, जिसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। यदि आप गोस्वामीजी के ग्रन्थों का अध्ययन करें, तो एक बड़ी अद्‌भुत बात पायँगे। भगवान् राम जिनका सबसे अधिक ध्यान रखते थे, वे थीं कैकेयी अम्बा। और बाह्य दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रभु को सुमित्रा अम्बा की चिन्ता नहीं है। जिस समय लक्ष्मणजी भगवान् राघवेन्द्र से आग्रह करते हैं कि मैं भी आपके साथ चलूँगा, प्रभु लक्ष्मण से कहते हैं——

मागहु बिदा मातु सन जाई। २/७२/१

——'जाकर माँ से विदा माँग आओ।' प्रभु वन जाने से पूर्व कौसल्या अम्बा से आज्ञा प्राप्त करते हैं और कैकेयी अम्बा

की आज्ञा लेकर तो जाते ही हैं। जब उन्होंने दो माताओं से आज्ञा माँगी, तो क्या उचित न होता कि वे सुमित्रा अम्बा से भी आज्ञा प्राप्त करते ? लक्ष्मण को उनके पास भेजने के साथ ही वे स्वयं भी तो सुमित्रा अम्बा के पास जा सकते थे और उनके चरणों में प्रणाम करके आ सकते थे। यह अटपटी बात लगती है कि उन्होंने दोनों माताओं से तो आज्ञा लेना आवश्यक समझा, पर सुमित्रा अम्बा के महल में गये ही नहीं। उधर सुमित्रा अम्बा का भी व्यवहार बड़ा अनोखा है। वे प्रभु से इतना प्रेम करती हैं कि उसकी तुलना नहीं। लेकिन प्रभु जब वन को जाते हैं, तो वे लक्ष्मण को बड़े उत्साह से प्रभु के साथ भेज देती हैं, पर वे स्वयं उनसे मिलने नहीं आतीं। इसका अभिप्राय क्या है ? क्या यह मान लें कि कैकेयी अम्बा का स्नेह ऊँचा है और सुमित्रा अम्बा के स्नेह में निम्नता है ? नहीं, ऐसी बात नहीं। तो यथार्थता क्या है ?

वस्तुत: श्रीराघवेन्द्र द्वारा कैकेयीजी के प्रति किया जाने वाला जो सतत आदर का व्यवहार है, वह प्रभु की सजगता का सूचक है और सुमित्रा अम्बा के प्रति उनका जो व्यवहार है, वह अपनत्व और विश्वास की पराकाष्ठा का सूचक है। यही अन्तर है। सुमित्रा अम्बा के सामनें व्यवहार करते हुए प्रभु को यह चिन्ता नहीं रहती कि कहीं सुमित्रा अम्बा मेरे व्यवहार से बुरा न मान जायँ अथवा उनको मेरे व्यवहार से ऐसा कुछ न लगे कि मैंने उनकी उपेक्षा कर दी। पर कैकेयी अम्बा के प्रति श्रीराघवेन्द्र

निरन्तर सजग रहते हैं। वे जानते हैं कि कैकेयीजी के हृदय में यह बात बड़ी शीघ्रता से आ सकती है कि राम ने मेरा ध्यान नहीं रखा। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है, उनसे पूछा गया कि प्रभु कैकेयी अम्बा का इतना ध्यान क्यों रखते हैं, तो उन्होंने लिखा--

ता कुमातु को मन जोगवत ज्यौं निज तन मरम कुघाउ।
१००/६

--अगर अपने शरीर में फोड़ा हो जाय, तो सबसे ज्यादा ध्यान उसी का रखना पड़ता है। हमेशा चिन्ता लगी रहती है कि उस पर आघात न लग जाय। शरीर के दूसरे भागों में धक्का लगे, तो कोई बात नहीं, पर जहाँ पर व्रण है, वहाँ थोड़ा भी आघात बड़ी तीव्रता से अनुभव होता है। इस दृष्टि से भगवान् श्रीराघवेन्द्र को कैकेयी अम्बा से व्यवहार करते समय निरन्तर सजग रहना पड़ता है। इसके मूल में आध्यात्मिक दृष्टि क्या है?--

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

--कौसल्या अम्बा ज्ञानमयी हैं, सुमित्रा उपासनामयी और कैकेयी क्रियामयी। एक में विचार की प्रधानता है, दूसरे में भावना की और तीसरे में क्रिया की। यही तीनों का चरित्र है। भगवान् श्री राम सबसे अधिक ध्यान किसका रखते हैं?--क्रियामयी कैकेयी का। संसार के जितने भी क्रिया-वादी होते हैं वे व्यवहार को बड़ा महत्त्व देते हैं, सतत देखते रहते हैं कि अमुक ने मेरे प्रति कैसा व्यवहार किया।

जो भावुक होते हैं, उनकी दृष्टि में क्रिया का महत्त्व नहीं है, वहाँ भावना की विशेषता है। इसीलिए प्रभु को सुमित्रा अम्बा से व्यवहार करने में रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होती। उनसे प्रभु का व्यवहार मानो प्रेम की पराकाष्ठा है। ठीक ऐसा ही व्यवहार भगवान् का लक्ष्मणजी के प्रति है। उनसे भी व्यवहार करते हुए प्रभु को कभी यह चिन्ता नहीं रही कि लक्ष्मण बुरा मान जायँगे। तभी तो चित्रकूट में एक दिन प्रभु लक्ष्मणजी से कह उठते हैं--

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना॥ २/२३१/४

--'लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजी की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि भरत के समान पवित्र और उत्तम भाई संसार में नहीं है।' यह किससे कह रहे हैं ?-- भाई से ही। क्या लक्ष्मणजी कम अच्छे भाई हैं ? क्या उन्होंने उनकी कम सेवा की है ? क्या उनका त्याग कम है ? पर भगवान् उन्हीं से कहते हैं कि आज तक भरत के समान सुबन्धु हुआ ही नहीं। इसका तात्पर्य क्या ? इससे भरतजी की जितनी महिमा सिद्ध होती है, लक्ष्मण जी के प्रति उससे कम अपनत्व सिद्ध नहीं होता। श्रीराघवेन्द्र का लक्ष्मणजी पर बड़ा भरोसा है। वे जानते हैं कि लक्ष्मणजी यह सुनकर रूठेंगे नहीं। प्रभु तो बड़े व्यवहारपटु हैं--

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु॥ २/२५३/५

--पर नीतिकुशल, व्यवहारकुशल होते हुए भी प्रभु के वचनों में गूढ़ता है। जब आप अपने मित्र से कहते हैं कि तुम मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय हो, तब उसका तात्पर्य क्या यह कि आपको प्राण प्रिय नहीं? प्राण तो इतना प्रिय है कि यदि इस वाक्य को सुनकर वह छोड़कर जाने लगे, तो लोग ऐसा कहना ही बन्द कर दें। इसका अर्थ यही है कि प्राण के प्रति हमारे मन में इतनी अभिन्नता की अनुभूति है कि उसकी तुलना में हमें किसी को भी श्रेष्ठ कहने में संकोच नहीं होता। लक्ष्मणजी के प्रति प्रभु की ऐसी अभिन्नता है कि वे यह कहने में जरा भी नहीं सकुचाये कि लक्ष्मण, भरत के समान तो भाई ही नहीं हुआ! यही नहीं, जब प्रभु से हनुमानजी मिले--केवल दो ही क्षणों का मिलन हुआ होगा, बस दो-चार वाक्यों मात्र का आदान-प्रदान हुआ होगा कि प्रभु हनुमान जी से कह उठते हैं--

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४/२/७

—'हनुमान! तुम अपने मन में रंच मात्र भी दुख न मानना, तुम तो मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्यारे हो।' दो-चार वाक्यों का आदान-प्रदान हुआ नहीं कि चौदह वर्षों से निरन्तर सेवा में लगे लक्ष्मणजी से हनुमान दूने प्यारे हो गये! पता नहीं प्रभु ने किस तराजू पर तौला होगा? पर विशेषता यही थी। दोनों प्रसंगों में आपको यह दिखायी देगा कि भगवान् राघवेन्द्र लक्ष्मणजी को अपने

से इतना अभिन्न मानते हैं कि उनकी तुलना में किसी को भी श्रेष्ठ बताने में रंचमात्र भी नहीं हिचकते। कोई यदि आपको एक गिलास जल पिला दे, तो आप उसे धन्यवाद देंगे; कहेंगे—आपने बड़ा कष्ट उठाया, धन्यवाद! पर अगर आपको प्यास बुझाने के लिए कुएँ से बाल्टी में जल खींचकर निकालना पड़े, तो क्या आप अपने हाथ को धन्यवाद देंगे कि आप धन्य हैं, जो आपने इतना कष्ट उठाया? एक गिलास लाने में जितना कष्ट है, एक बाल्टी उठाने में उससे अधिक कष्ट है, पर हाथ के प्रति हमारा जो अपनत्व है, वह धन्यवाद देने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। यही अपनत्व की पराकाष्ठा प्रभु की लक्ष्मण के प्रति है।

प्रभु की यही बात भरतजी के भी प्रति है। बन्दर खड़े थे। एक ओर भरतजी भी खड़े थे। गुरु वसिष्ठ से उनका परिचय देते हुए प्रभु कहते हैं--

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥ ७/७/८

——ये बन्दर मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हैं। यहाँ प्रभु ने बन्दर और भरतजी की तुलना कर दी। उन्हें भरतजी के प्रति इतना विश्वास है कि वे जानते हैं, इससे भरतजी को तनिक भी क्षोभ नहीं होगा तथा बन्दरों को प्रसन्नता होगी।

इसी प्रकार भगवान् श्री राघवेन्द्र का सुमित्रा अम्बा के प्रति जो व्यवहार है, उसमें अपनत्व की पराकाष्ठा है

तथा कैकेयी अम्बा के प्रति जो व्यवहार है, उसमें इस बात का ध्यान है कि क्रियापरायण व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार किया जाय। प्रभु वनगमन के समय सुमित्रा अम्बा से मिलने क्यों नहीं गये ? इसलिए नहीं कि उन्हें सुमित्रा अम्बा का ध्यान नहीं है, वरन् इसलिए कि उनके मन में संकोच हुआ। जैसे ऋणी बिना ऋण चुकाये पुनः माँगने पहुँच जाय, तो उसे संकोच होता है, वैसे ही प्रभु को लगा कि माँ के पास जाकर कैसे कहें कि तुम्हारे पुत्र को वन ले जाना है। वे जानते हैं कि माँ बड़ी उदार हैं, वे तुरन्त कह देंगी--'ले जाओ,' पर प्रभु को संकोच होता है। स्वयं नहीं जाते। लक्ष्मणजी से कहते हैं--'जाओ माँ से आज्ञा माँग आओ।' सुमित्रा अम्बा के प्रति प्रभु के स्नेह की कोई सीमा नहीं है।

हम कह चुके हैं कि कैकेयी अम्बा क्रियाशक्ति हैं। इन्हीं को माध्यम बनाकर भगवान् राम का वन गमन है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया में ही त्रुटि आती है, तथा क्रिया के द्वारा ही सृष्टि की लीला का विस्तार होता है। क्रिया जब भी होगी, तो उसमें गुण और दोष का मिश्रण होगा ही। कैकेयी अम्बा के चरित्र में लोक-कल्याण की दृष्टि से लीला का विस्तार होता है, पर साथ ही क्रिया का जो दोष है, वह भी उनके जीवन में परि-लक्षित होता है। यह कैसे ? गोस्वामीजी इसे इस प्रकार रखते हैं। प्रारम्भ में ही मन्थरा का नाम आता है। मन्थरा और श्री भरत 'मानस' के दो प्रतिद्वन्द्वी पात्र हैं।

'मानस' के सबसे बड़े सन्त हैं श्री भरत और सबसे बड़ी असन्त है मन्थरा। एक ही नगर में सबसे बड़े सन्त और असन्त दोनों रह रहे हैं। 'मानस' में तीन नगर हैं-- लंका, अयोध्या और मिथिला। लंका में असन्त ही असन्त हैं सिवा एक-दो को छोड़कर। मिथिला में सन्त ही सन्त हैं, कोई असन्त नहीं। और अयोध्या में सन्त भी हैं एवं असन्त भी। लंका देहनगर है और मिथिला विदेहनगर। अयोध्या देहाधिकारनगर है। गोस्वामीजी जनकपुरी के सम्बन्ध में लिखते हैं--

पुर नर नारि सुभग सुचि सन्ता।
धरमसील ग्यानी गुनवन्ता ॥ १/२१२/६

—'नगर के स्त्री-पुरुष सुन्दर, पवित्र, साधु स्वभाववाले, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं।'

पर अयोध्या की बात भिन्न है। वहाँ यदि एक से एक बढ़कर धार्मिक व्यक्ति हैं तो संसार की सबसे बड़ी असन्त मन्थरा भी वहीं रहती है। वह रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद की तुलना में भी बड़ी असन्त है। रावण, मेघनाद और कुम्भकर्ण तो लंका में रहकर अत्याचार और पाप करते हैं, पर जो अयोध्या में भगवान् राम की प्रिय माता कैकेयी के भवन में रहे, फिर भी जिसके अन्तःकरण का दोष दूर न हो और जो कैकेयी की बुद्धि को भी बदल दे, उससे बढ़कर असन्त और कौन होगा? गोस्वामीजी सन्त और असन्त की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि दोनों का लक्षण एक ही है--सन्त भी दुःख का प्रेमी है

और असन्त भी। दोनों महान् दुःख उठाने के लिए तैयार रहते हैं। तो क्या सन्त और असन्त में कोई अन्तर नहीं ? है, एक छोटासा अन्तर है। वह क्या ?--

सन्त सहहिं दुख पर हित लागी।
पर दुख हेतु असन्त अभागी॥ ७/१२०/१५

--सन्त दुःख उठाते हैं दूसरों की भलाई के लिए और असन्त दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए। अतः जो दूसरों को दुःख देने के लिए बड़ा से बड़ा दुःख उठा ले, वह है असन्त और जो दूसरों को सुख देने के लिए महान् दुःख अपना ले, वह है सन्त। दोनों बिल्कुल एक-जैसे ही होते हैं। यही बात आपको भरत और मन्थरा में मिलेगी। दोनों महान् दुःख उठानेवाले व्यक्ति हैं और दोनों की दशा एक सी है। दोनों का हृदय जल रहा है। भरतजी का हृदय किसलिए जलता है ? इसलिए कि--

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं।
करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ २/२१०/८
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। २/२११/१

--प्रभु भैया लक्ष्मण और जानकीजी के साथ पैरों में विना जूती के मुनियों का वेष बनाये वन-वन में फिर रहे हैं। और मन्थरा का हृदय क्यों जल रहा है ? वह पूछती है--नगर क्यों सजाया जा रहा है ? उत्तर मिलता है--राम को राज्य मिलने वाला है और यह सुनकर उसकी छाती जलने लगती है---

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।

राम तिलकु सुनि भा उर दाहू ॥ २/१२/२

दोनों का हृदय समान रूप से जलता है। एक का हृदय दूसरे के दु:ख की कल्पना से जलता है, तो दूसरे का दूसरे के सुख की कल्पना से। भरत जी को न तो नींद आती है न भोजन रुचता है। वे कहते हैं--

भूख न बासर नीद न राती। २/२११/१

और मन्थरा की भी यही दशा है। वह कैकेयी से कहती है--

जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि।
भूख न बासर नीद न जामिनि ॥ २/२०/६

भरत जी बड़े सुन्दर कथावाचक हैं, वे बड़ी सुन्दर कथा सुनाते हैं--

भरतहुँ मातु सकल समुझाईं।
कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं ॥ २/१६६/३

मन्थरा भी बढ़िया कथा सुनाती है। कहती है--

कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु।
२/१८

और अन्त में कथा की पराकाष्ठा करते हुए कहती है--

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बन्दिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ॥ २/१९

तभी तो गोस्वामी जी श्री भरत और मन्थरा दोनों को बिलकुल एक-जैसी उपाधि देते हैं। भरत क्या हैं? भक्तशिरोमणि--

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल ॥ २/२१९

और मन्थरा क्या है ? कुटिलशिरोमणि--

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई। २/२६/६

मणि तो दोनों में बराबर ही है, पर जहाँ सन्त में भक्ति का मणि है, वहीं असन्त में कुटिलता का। गोस्वामी जी का अभिप्राय यह है कि भगवान् राम के--साक्षात् ईश्वर के अयोध्या में विद्यमान होने के बावजूद रामराज्य नहीं बन पाया। ऐसा क्यों ? उस समय सब तो थे, पर परम सन्त भरत नहीं थे। भगवान् ने मानो यह कहा कि मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा ? असन्तत्व का विष तो सन्तत्व के द्वारा ही मिटता है, मेरे द्वारा नहीं। यदि मेरे द्वारा मिटता होता, तो मैं तो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बैठा हुआ हूँ, पर आज तक मैं उसे नहीं मिटा पाया। यह तो सन्त की महिमा है कि वह इस विष को मिटाने में समर्थ है। भरत को राज्याभिषेक के लिए बुलाया क्यों नहीं गया ? इसके पीछे चाहे जो कारण रहा हो--चाहे श्री भरत पर विश्वास न रहा हो, चाहे उनकी माता का अविश्वास करके उन्हें न बुलाया गया हो, पर यह तो स्पष्ट है कि भरत को नहीं बुलाया गया। इसका अभिप्राय यह है कि सन्त पर भरोसा नहीं किया गया। और परिणाम क्या हुआ ? सन्त के प्रति जब विश्वास का अभाव हुआ, तो असन्त ने अपने प्रति विश्वास पैदा कर लिया, और इस प्रकार एक अनर्थ खड़ा कर दिया। हमें सर्वत्र ही यह संकेत प्राप्त होता है। श्री किशोरी जी का हरण क्यों

हुआ ? उन्हें लक्ष्मण जी पर अविश्वास हो गया। और जब वास्तविक सन्त पर सन्देह हुआ, तो नकली साधु ने आकर ठग लिया। रावण है नकली साधु और लक्ष्मण जी हैं असली साधु। ये दोनों प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सदा ही विद्यमान रहते हैं। बिना विश्वास के संसार में कोई रह नहीं सकता। जो कहते हैं कि हम तो प्रत्येक बात को बुद्धि से तौलते हैं, वे व्यर्थ की बात करते हैं। विश्वास तो सभी के जीवन में होता है। कोई सन्त पर विश्वास करता है, तो कोई असन्त पर और किसी को अपनी बुद्धि पर विश्वास होता है। श्री भरत के न आने का परिणाम यह होता है कि मन्थरा बड़ी विलक्षण पद्धति से अपना प्रभाव डाल देती है।

तीन नारी पात्रों को माध्यम बनाकर भगवान् राम के जीवन में मोड़ प्रारम्भ होता है। भगवान् राम जब मुनि विश्वामित्र के साथ प्रथम यात्रा करते हैं,तो ताड़का सामने आती है। वे जब दूसरी बार वन को जाते हैं, तो मन्थरा कारण बनती है। और तीसरी बार रावण के साथ संघर्ष में शूर्पणखा कारण बनती है। यह ताड़का है क्रोध की वृत्ति, मन्थरा है लोभ की वृत्ति और शूर्पणखा है काम की वृत्ति। इन तीनों के द्वारा भगवान् राम की लीला का अध्याय प्रारम्भ होता है, और प्रभु तीनों पर विजय प्राप्त करते हैं। मन्थरा देखती है कि नगर सजाया जा रहा है। लोभी को दूसरे की उन्नति देख बड़ा दुःख होता है। मन्थरा विचार करती है--अब मैं क्या करूँ ?

यह मन्थरा धीमी चाल से चलती है और कब किसके हृदय में जा पैठती है पता नहीं चल पाता। और है यह कुबड़ी। सामने से इसमें कोई दोष नहीं दिखायी देता, पर पीछे से देखें तो पता चलता है कि इसमें कितना टेढ़ापन है। लोभ की बुराई सामने से नहीं दिखायी देती। अगर कोई पीछे से इसके अन्तरंग को पहचान ले, तो वह इसके टेढ़ेपन को देख सकता है। यह विचित्र बात है कि कैकेयी भगवान् राम से भी प्रेम करती हैं और साथ ही उनका अपनी दासी मन्थरा के प्रति भी प्रेम है। दासी पितृगृह से प्राप्त हुई है। महाराज कैकय ने विवाह के उपहार के रूप में इस दासी को साथ में भेजा है। कहाँ परम सुन्दरी कैकेयी और कहाँ ऐसी कुरूप दासी! लगता है, कैकेयी के अन्तःकरण में कहीं न कहीं कुरूपता के प्रति प्रेम विद्यमान है। ऐसे भी सफाई-पसन्द लोग होते हैं, जो पूरे कमरे में तो झाड़ू लगाएँगे, पर झाड़ू लगाकर कूड़ा-करकट को दरी के नीचे दबा देंगे, दरी से ढक देंगे। इसका अर्थ यह है कि उन्हें कूड़े से घृणा नहीं है, घृणा कूड़े के दिखायी देने से है। गन्दगी नीचे ढकी रहे, तो कोई बात नहीं, पर वह बाहर दिखायी न दे। जब कैकेयी परम सौन्दर्यमयी होकर इस कुरूपा दासी को साथ ले आती हैं, तो इससे यही लगता है कि उनके मन में इस कुरूपता की वृत्ति के पीछे कहीं न कहीं एक आकर्षण विद्यमान है, जिसका संकेत आगे चलकर मिलता है। जब मन्थरा लम्बी लम्बी साँस भरते और मुँह

बनाये कैकेयी के भवन में आती है, तो उसे इस प्रकार देख कैकेयी जी को हँसी आ जाती है और एक वाक्य कह उठती हैं--

दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें। २/१२/७

--'क्यों, क्या लक्ष्मण ने कोई शिक्षा दी ?' इसका तात्पर्य क्या ? यही कि लक्ष्मण जी इस मन्थरा से सदा सावधान रहते थे। वे जानते थे कि यह अनर्थकारिणी है। माँ की प्रिय होनें के कारण इसे हटाना तो कठिन था, पर वे सदैव सजग रहते कि वह कोई अनर्थ न कर बैठे। जब कभी मन्थरा कुछ इधर-उधर करनें की चेष्टा करती, तो लक्ष्मण जी उस पर शासन भी करते। इसीलिए उसका उतरा हुआ चेहरा देख कैकेयी को लगा कि जरूर लक्ष्मण ने डाँट-फटकार की होगी। पर मन्थरा कोई साधारण शक्ति नहीं है, उसका व्यक्तित्व कोई साधारण नहीं। उसनें ऐसा फूट डाला कि कैकेयी जी की सारी उदारता समाप्त हो गयी और जो राम के प्रति अपने प्रेम के लिए सर्वप्रसिद्ध थीं, उनका दूसरा ही रूप प्रकट कर दिया। जब कैकेयी ने पूछा --"क्यों, तुम्हारी ऐसी दशा क्यों है ? क्या लक्ष्मण ने तुम्हें शिक्षा दी ?" तो लम्बी उसाँसें भरकर मन्थरा बोली--"ठीक है, मुझे तो सभी लोग शिक्षा ही दिया करते हैं, मेरे जीवन में कोई विशेषता तो हैं नहीं। चाहे जो मुझे शिक्षा दे ले !" कैकेयी जी घबराकर पूछती हैं--

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
२/१३

राम के प्रति इतना स्नेह है कि रानी पहले उन्हीं की कुशल पूछती हैं, और तब राजा दशरथ एवं लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न की--

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु ।
लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु ।। २/१३

मन्थरा को बड़ा बुरा लगा। देखो तो, राम के विरुद्ध मैं इन्हें भड़काने आयी और इनका राम से इतना अनुराग है कि पहला प्रश्न उन्हीं के बारे में करती हैं। इन्हें चिन्ता तो भरत के बारे में होनी चाहिए थी, जो इतनी दूर हैं। मन्थरा पूछती है--"क्या तुम्हें समाचार नहीं मिला ?"

"किस बात का ?"

"इसका कि महाराज दशरथ ने विचार किया है, वे कल राघवेन्द्र को युवराज-पद देंगे।"

यह सुनकर कैकेयी पर विलक्षण प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा--"यह समाचार सच है क्या ? मुझे विश्वास ही नहीं हो पा रहा है। ऐसा मांगलिक और प्रिय समाचार मुझे दिया ही नहीं गया। अगर यह सही है, तो मन्थरा, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। आज तुम्हें मुझसे जो माँगना हो, माँग लो"--

राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली ।
देउँ मागु मन भावत आली ।। २/१४/४

अब सोचिए-मन्थरा से उन्होंने पहले भगवान् राम की कुशलता पूछी, फिर उनके युवराज-पद पर अभिषिक्त

होने के समाचार सुन इतनी प्रसन्नता प्रकट की कि मन्थरा को मनचाहा वरदान माँग लेने को कहा। मन्थरा को लगा कि इतना उत्कृष्ट प्रेम, ऐसा अद्‌भुत भाव कैसे मिटेगा ? पर वह घबरायी नहीं। उसने हार नहीं मानी। वह बड़ी ही चतुर थी। कैकेयी की इन बातों को सुनकर उसने सोचा--नहीं, नहीं, अभी जरा और गहराई में देखना चाहिए। भवन तो बड़ा ऊँचा लग रहा है पर इसकी नींव कितनी गहरी है यह देखना चाहिए और जब मन्थरा ने नींव को देखा, तो जान लिया कि भले ही भवन ऊँचा है, पर नींव बड़ी कमजोर है। नींव में उतनी गहराई नहीं है, जितना कि भवन ऊँचा दिख रहा है। और बस इसी दुर्बलता को पकड़कर मन्थरा ने सारा अनर्थ किया। उसने टटोलने के लिए कैकेयी से कहा, "देवी ! संसार में तो यह देखा जाता है कि प्रत्येक को अपना पुत्र ही सर्वाधिक प्रिय होता है, और माता अपने पुत्र की कुशल ही सबसे पहले पूछा करती है। पर आपकी उदारता तो आश्चर्यमय है, जो आप पराये पुत्र से इतना प्रेम करती हैं कि उसकी कुशल पहले पूछ बैठीं।"

कैकेयी ने कहा, "मन्थरा, तुम सही कहती हो। राम मुझे भरत से भी प्यारे हैं।"

कैकेयी यदि इतना कहकर रुक जातीं, तो भी बात ठीक थी। पर वे अपने को रोक नहीं पातीं। कह उठती हैं--

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी ॥

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। ३/१४/५-६

--"मन्थरा! तुम्हें पता नहीं, भले ही राम को सहज स्वभाव से सब माताएँ कौसल्या के समान ही प्यारी हैं, पर मुझ पर उनका प्रेम सब माताओं की अपेक्षा विशेष है।"

यह सुन मन्थरा चौकन्नी हुई। उसने पूछा, "अच्छा, आपको यह कैसे मालूम हुआ कि राम आपको सब माताओं की अपेक्षा ज्यादा प्यार करते हैं?"

तुरन्त कैकेयी जी के मुँह से निकला--

मैं करि प्रीति परीछा देखी। २/१४/६

--"मैंने उनके प्यार की परीक्षा लेकर देखा है।"

और यह सुन मन्थरा मन ही मन प्रसन्न हो गयी। उसने नींव की दुर्बलता पकड़ ली। व्यक्ति किसी बात की परीक्षा तब लेता है, जब उसे कुछ सन्देह हो, शंका हो। कैकेयी ने राम की प्रीति की परीक्षा ली, इसका अर्थ स्पष्ट है कि उनके प्रेम के सम्बन्ध में कैकेयी को सन्देह रहा है। कौसल्या जी ने कभी राम के ज्ञान की परीक्षा नहीं ली। सुमित्रा अम्बा ने कभी राम के प्रेम को कसौटी पर नहीं कसा। तब भला कैकेयी अम्बा ने ही ऐसा क्यों किया?--वे क्रियावादी जो हैं। क्रियावादी प्रत्येक वस्तु को अपनी सीमा में घेरकर स्वीकार करने का अभ्यस्त है। वह समझता है कि प्रत्येक वस्तु को अपनी क्रिया द्वारा परख लेगा। यदि कोई उससे अच्छा व्यवहार करता है, तो वह समझता है कि वह उससे प्रेम करता है और यदि किसी के व्यवहार में रंच मात्र त्रुटि

हो, तो वह उसे अपना अनुरागी नहीं मानता। क्रियावादी दूसरे की परीक्षा तो करना चाहता है, पर स्वयं अपनी परीक्षा नहीं करता कि वह दूसरे की परीक्षा लेनें योग्य है भी या नहीं। कैकेयी जी भगवान् राम के प्रेम की परीक्षा लेती हैं और अपने को परीक्षा लेने योग्य मान बैठती हैं, यही उनकी भूल है। इसका कारण स्पष्ट है कि कैकेयी अम्बा को भगवान् राम के प्रेम का पूरा पूरा विश्वास नहीं है। तभी दो वे परीक्षा लेती हैं। यही वह नींव की दुर्बलता थी, जिसे मन्थरा ने पकड़ लिया। कोई व्यक्ति यदि एक बार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय, तो यह कोई आवश्यक नहीं कि वह बार बार उत्तीर्ण होता रहे। जो एक बार पास हो गया, वह दूसरी बार फेल भी तो हो सकता है। मन्थरा ने मन में कहा—ठीक है, यदि कभी राम तुम्हारी परीक्षा में पास हुए हैं, तो मैं उन्हें फेल करके भी दिखाऊँगी। और वह चतुराई से अपनी बात कैकेयी जी के सामने रखती है--

प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी।
रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥
रहा प्रथम अव ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते॥ २/१६/५-६

--"रानी! तुमने जो कहा कि मुझे सीता राम प्रिय हैं और अव राम को तुम प्रिय हो, सो यह बात सच्ची है। परन्तु यह बात पहले थी, वे दिन अब बीत गये। समय फिर जानेपर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।"

पर कैकेयी को सहसा इस बात का विश्वास नहीं होता। वे श्रीराम के प्रति अपने प्रेम में इतनी आश्वस्त हैं कि उन्हें पहले मन्थरा की बात नहीं सुहाती। वे मन्थरा का तिरस्कार भी करती हैं। पर मन्थरा चतुराई से कैकेयी की दूसरी भूल भी पकड़ लेती है। श्री राम के प्रति अपने प्रेम का वर्णन करते हुए कैकेयीजी नें कहा था--

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। २/१४/८

--"राम मुझे प्राणों से बढ़कर प्रिय हैं।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा था--

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम तिय पूत पुतोहू॥ २/१४/७

--"जो विधाता कृपा करके जन्म दें, तो उस अगले जन्म में राम मेरे पुत्र बनें और सीता मेरी बहू।"

यह चौपाई पढ़ लोग कहा करते हैं कि कैकेयी जी की भावना बड़ी उच्च थी। यह सही नहीं है। भावना ऊँची दिखायी तो देती है, पर है नहीं। यहाँ कैकेयी जी के प्रेम की कमी ही परिलक्षित होती है। उनका यह कहना उनकी दूसरी भूल है कि ब्रह्माजी कृपा करके अगले जन्म में राम को मेरा बेटा बनाएँ और सीता को मेरी बहू। क्या यही भावना की ऊँचाई है? कैकेयी जी की सबसे बड़ी कमी यही है। एक ओर तो वे कहती हैं कि राम को प्राणों से भी अधिक चाहती हूँ, और दूसरी ओर उनके मन में यह दुःख भी छिपा है कि मैं चाहे राम को जितना अधिक चाहूँ और चाहे राम मुझे कौसल्या

जी से भी अधिक चाहें, पर संसार के लोग राम को कौसल्या जी का ही पुत्र कहेंगे, मेरा नहीं। मन्थरा कैकेयी के इस ममत्व-रोग रूपी दूसरी भूल को भी पकड़लेती है और समझ लेती है कि कैकेयी को अब अपने वश में करना कोई कठिन काम नहीं है। और उसके बाद मन्थरा ने कैकेयी को जो पाठ पढ़ाया, वह भगवान् राम के वन-गमन का कारण बनता है, जिसके फलस्वरूप महाराज दशरथ चाहते हुए भी अयोध्या में रामराज्य की स्थापना नहीं कर पाते।

मलय पवन के लगने से जिन पेड़ों में कुछ सार है, वे सब चन्दन हो जाते हैं; किन्तु असार वृक्ष जैसे बाँस, केला आदि पर कुछ असर नहीं होता। इसी प्रकार, भगवत्कृपा पाकर, जिनमें कुछ सार है, वे मुहूर्त भर में साधु-भाव से परिपूर्ण हो जाते हैं; किन्तु विषयासक्त मनुष्य पर सहज ही कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

— श्रीरामकृष्ण देव

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सुखी जीवन का मंत्र

विशाखा के केश और वस्त्र भीगे हुए थे। बड़ी शोकाकुल दिखायी देती थी वह! भगवान् बुद्ध ने उसकी ओर देखा और बोले, "यह कैसी दशा कर ली है तुमने?" इस दशा में तुम्हें देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।

"मेरे पौत्र का निधन हो गया है, भन्ते! उसके प्रति शोकाचरण है यह!" विशाखा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया।

"क्या तुम बता सकती हो, श्रावस्ती में कितने नर-नारियों की रोज मृत्यु होती होगी?" बुद्धदेव ने प्रश्न किया।

"निश्चित संख्या तो नहीं बता सकती, किन्तु रोज एक न एक मनुष्य तो अवश्य ही पंचतत्त्व में लीन होता होगा।" विशाखा ने उत्तर दिया।

"श्रावस्ती में जितने नर-नारी हैं, उनके प्रति तुम्हें आत्मीय भाव जागृत होता है?"

"हाँ भन्ते!"

"और उनके पुत्र-पौत्रों के प्रति?"

"उनके लिए भी मेरा पुत्रवत् व्यवहार रहता है।"

"यानी रोज एक न एक बालक तो पंचतत्त्व में लीन होता ही होगा। तब बताओ विशाखा, प्रतिदिन क्या तुम इसी दशा में रह सकती हो?"

"नहीं भन्ते!"

"तब जान लो कि जिसके सौ सगे-सम्बन्धी होंगे, उन्हें सौ दु:ख होंगे और जिसका केवल एकमात्र पुत्र हो, उसे एक ही दु:ख होगा। लेकिन जो इस संसार में अकेला है और जिसका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं, उसे दूसरों के लिए कोई दु:ख नहीं है। इसी कारण जीवन में सुखी रहनें का एकमात्र उपाय यह है कि किसी से भी सम्बन्ध न रखा जाय। न तो किसी को प्रिय माना जाए और न किसी के प्रति ममता प्रदर्शित की जाए। यदि मनुष्य हमेशा प्रसन्नचित रहना हो, तो उसे किसी के साथ सम्बन्ध स्वीकार नहीं करना चाहिए।"

(२) सच्चा भक्त कौन ?

एक बार सन्त राँका कुम्हार की कन्या नदी में स्नान कर रही थी। समीप ही सन्त नामदेव की कन्या भी कपड़े धो रही थी। इससे उसकी देह पर छींटे पड़ने लगे। इस कारण उसने नामदेव की कन्या से कपड़े धीरे धोनें कहा। इस पर वह नाराज होकर बोली, "यह नदी क्या तेरे बाप की है ? तेरा बाप है तो कुम्हार, मगर खुद को ब्राह्मण से कम नहीं समझता !" इन शब्दों से राँका की कन्या के हृदय को ठेस पहुँची, बोली, "तुझे कपड़े जोर से धोना है, तो धो, मगर मेरे पिता को क्यों भला-बुरा कहती है ? इससे उनका तो कोई सम्बन्ध नहीं है।" "है क्यों नहीं ?" वह उलटकर बोली, "बिल्ली के बच्चों का बहाना बनाकर बैराग धारण कर लिया है उसने और अपना माल-असबाब लुटाकर द्वार-द्वार जाकर ब्राह्मणों की

तरह भीख माँगा करता है और मुफ्त में भोजन करता है वह !"

"यह तो मेरे पिता के लिए बड़प्पन की बात है, वहन ! तूने कभी अपने पिता के बारे में भी सोचा है, जिसने भगवान् से हठ करके उनका मौनव्रत भंग किया और उन्हें बोलने को मजबूर किया ? क्या इससे भगवान् का अपमान नहीं हुआ ?" ये शब्द नामदेव की कन्या को तीखे लगे । वह गुस्से के मारे कपड़े उठाकर घर चली गयी और नमक-मिर्च लगाकर सारी घटना नामदेव को सुना दी । नामदेव को भी अपना अपमान सहन न हुआ। वे भगवान् की मर्ति के पास गये और बोले, "भगवन् ! राँका की लड़की ने मेरा अपमान किया और तू चुपचाप देखता रहा। इसका यह अर्थ हुआ कि तुझे मुझसे ज्यादा प्रिय वह है ।" भगवान् बोले, "हाँ, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। वह मुझे क्यों इतना प्रिय है,चलो में तुम्हें दिखाता हूँ।"

और वे दोनों अदृश्य होकर जगल गये, जहाँ राँका और उनकी पत्नी बाँका भजन गाते हुए लकड़ियाँ एकत्रित कर रहे थे। भगवान् ने वहाँ चुपचाप सोने का एक कड़ा डाल दिया। राँका का ध्यान जब कड़े की ओर गया, तो बाँका से बोले, "बड़ा अनर्थ हो गया। हम भजन में लीन थे, तो भगवान् ने हमें दर्शन तो नहीं दिये और यहाँ यह कड़ा डालकर चले गये।"

"हाँ, हमें इसे स्पर्श नहीं करना चाहिए" कहकर बाँका ने उस कड़े को धूल से ढक दिया और कड़े से लगी

लकड़ी को जब वह उठाने लगी, तो राँका बोले, "बाँका उस लकड़ी को न उठाओ। पारस की तरह उस पर भी शायद असर हो गया होगा। कहीं वह भी सोने की न हो जाए।" और बाँका ने वह लकड़ी फेंक दी।

यह देख भगवान् ने नामदेव की ओर इशारा किया। उनकी आँखों से पश्चात्ताप के अश्रु बहने लगे थे, क्योंकि उन्हें राँका की विरक्ति की प्रतीति हो गयी थी। उन्होंने भगवान् से क्षमा माँगी।

(३) पातिव्रत्य

'गीत गोविन्द' के रचयिता सन्त जयदेव की पत्नी पद्मावती बड़ी साध्वी, पतिव्रता और सुशीला थीं। राजप्रासाद की स्त्रियाँ सत्संग करने उनके पास हमेशा आया करती थीं। एक बार 'सती' विषय पर उन्होंने चर्चा करते हुए कहा कि सती वह नहीं, जो पति के निधन के बाद चिता में भस्म हो जाती है; सती तो वह है, जो पति के निधन का समाचार सुनकर ही प्राण त्याग देती है। रानी ने इसे चुपचाप सुन लिया।

रानी दूसरे दिन पद्मावती के कथन पर विचार करने लगी कि क्या यह सम्भव है कि कोई स्त्री केवल पति के निधन का समाचार सुनकर ही प्राण त्याग दे, और वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि स्वयं पद्मावती के लिए भी यह सम्भव नहीं है। उसने यह सोचा कि क्यों न उसकी परीक्षा ली जाए और उसने पद्मावती के पास जयदेव के स्वर्गवासी होने की झूठी खबर भिजवा दी।

पद्मावती ने ज्योंही सुना, वे यह आघात सहन न कर सकीं और उन्होंने तत्क्षण देहत्याग कर दिया। यह बात जब रानी को मालूम हुई, तो उसे बेहद पश्चात्ताप हुआ और वह विलाप करने लगी। वह जयदेव के पास गयी और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर जयदेव बोले, "इसमें आपका कोई दोष नहीं है। ऐसा तो होने ही वाला था।" और वे 'राधा विनोद' का पाठ करने लगे। लोगों को यह देख आश्चर्य हुआ कि पद्मावती जी उठी हैं।

(४) औदार्य

कर्नाटक के सन्त बसवेश्वर के घर एक बार रात्रि को एक चोर आया और उसने उनकी सोती हुई धर्मपत्नी गंगाम्बिका के गले का रत्नहार निकाल लिया। इससे वह जाग गयी और जोर से चीख उठी। चीख सुनकर बसवेश्वर भी घबराकर उठ बैठे और उन्होंने पत्नी से चीखने का कारण पूछा। गंगाबिका से रत्नहार चोरी जाने की बात सुनकर उन्होंने डाँटा और बोले, 'चिल्लाने की बजाय तुम्हें उसे दूसरे आभूषण भी लेने देना था। मैं नही जानता था कि तुम इतनो लालची हो।" इस पर गंगाविका ने क्षमा माँगी। तब बसवेश्वर बोले, "यह चोर अवश्य ही संगमनाथ होगा। बेचारे के पास कुछ भी न होगा, इसलिए बड़ी आशा से वह आया होगा। खैर इस रत्नहार से कुछ दिन तो उसका काम चल जाएगा।"

वह चोर संगमनाथ ही था, जो एक कोने में जाकर

छिप गया था। बसेवेश्वर के शब्दों ने जादू का सा काम कर दिया। उसे आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही एक साधु पुरुष का हार चुराया है। वह तुरन्त सामने आ गया और बसवेश्वर के चरणों पर गिरकर उसने क्षमा माँगी। उसने हार वापस करते हुए कहा कि अब वह कभी चोरी न करेगा। किन्तु बसवेश्वर ने हार लौटाते हुए कहा, "इसे ले जाओ और जब कभी आवश्यकता पड़े, निस्संकोच माँगकर ले जाना।"

(५) भविष्य की चिन्ता

मुस्लिम सन्त करमानी की बेटी उनसे बढ़कर थी। उसके सौन्दर्य और स्वभाव की कीर्ति सुनकर बादशाह ने अपने शहजादे के साथ उसके विवाह का प्रस्ताव रखा। यद्यपि करमानी शाही खानदान से सम्बन्धित थे, किन्तु वे नहीं चाहते थे कि बेटी का विवाह शाही खानदान में किया जाए। उन्होंने बादशाह के प्रस्ताव को ठुकराकर एक फकीर के साथ उसका निकाह कर दिया।

बेटी जब अपने खाविन्द के घर आयी, तो उसे एक कटोरे में पानी और एक थाली में सूखी रोटी के टुकड़े ढँके हुए दिखायी दिये। उसने पति से घर पहुँचाने की प्रार्थना की। इस पर फकीर बोला, "मैं जानता था कि तुम सरीखी शाही खानदान की लड़की मुझ जैसे फकीर के साथ कभी बसर नहीं कर सकेगी। इसीलिए मैंने तुम्हारे अब्बाजान से अपनी हालात का बयान कर दिया था, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने रजामन्दी दे दी थी। अगर

मैं जानता कि तुम मेरी हालात से वाकिफ न हो, तो मैं कभी राजी न हुआ होता।"

"नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है," लड़की बोली, "मैं तुम्हारी हालात के कारण घर नहीं जाना चाहती। मैं तो अब्बाजान से इस बात की शिकायत करने जाना चाहती थी कि आपने तो यह कहा था कि आप मेरा निकाह खुदादोस्त (भक्त) और परहेजगार (संयमी) व्यक्ति के साथ करेंगे, मगर मैंने तो यह पाया कि मेरे खाविन्द का तो अल्लाह पर भी भरोसा नहीं। इसीलिए उसने पहले दिन का खाना दूसरे दिन के लिए रख छोड़ा है। आप ही बताएँ कि क्या यह तवक्कुल (खुदा की इच्छा) के खिलाफ नहीं? मुझ पर यकीन कीजिए, आप जो भी खाएँगे और जैसा भी खाएँगे, मैं भी वैसा ही खाऊँगी। मेरे लिए खाना रख छोड़ने की कोई जरूरत न थी।" और फकीर को यक़ीन हो गया कि वे अपनी गृहस्थी में सुख पाएँगे।

❀

नि:स्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना अधिक नि:स्वार्थी है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और ईश्वर के समीप है। और वह यदि स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों में दर्शन किये हों, चाहे सभी तीर्थों का भ्रमण किया हो, फिर भी वह ईश्वर से बहुत दूर है।

—— स्वामी विवेकानन्द

मन्दिर प्रतिष्ठापन समारोह

आँखों देखा विवरण

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में नवनिर्मित श्रीरामकृष्ण मन्दिर का प्रतिष्ठापन और उसमें भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के विग्रह का स्थापन-समारोह अत्यन्त उल्लासमय और आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण वातावरण में २ फरवरी, १९७६ को सम्पन्न हुआ। इसके उपलक्ष में अड़तीस दिन व्यापी विविध कार्यक्रमों की योजना की गयी थी। यह उत्सव २३ जनवरी, १९७६ से प्रारम्भ हुआ और इसकी पूर्णाहुति २९ फरवरी, १९७६ को सम्पन्न हुई। २३ जनवरी को विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी का ११४वाँ जन्म-दिवस था। उस दिन पुराने पूजागृह में विशेष पूजा और हवन का आयोजन किया गया था। २४ से ३१ जनवरी तक पूर्व माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शालाओं तथा महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए नौ प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयी थीं। २७ जनवरी को मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री श्यामाचरण शुक्ल ने आश्रम को भेंट दी और निर्माणाधीन मन्दिर का अवलोकन किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वामी विवेकानन्द अपने बचपन में १८७७ से १८७९ तक ये दो वर्ष रायपुर में रहे थे। उनके रायपुर-निवास की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उनके गुरु भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के नाम पर यह मन्दिर उत्सर्गित किया गया है।

१ फरवरी की सुबह पुरोहितों ने मण्डप-पूजन और
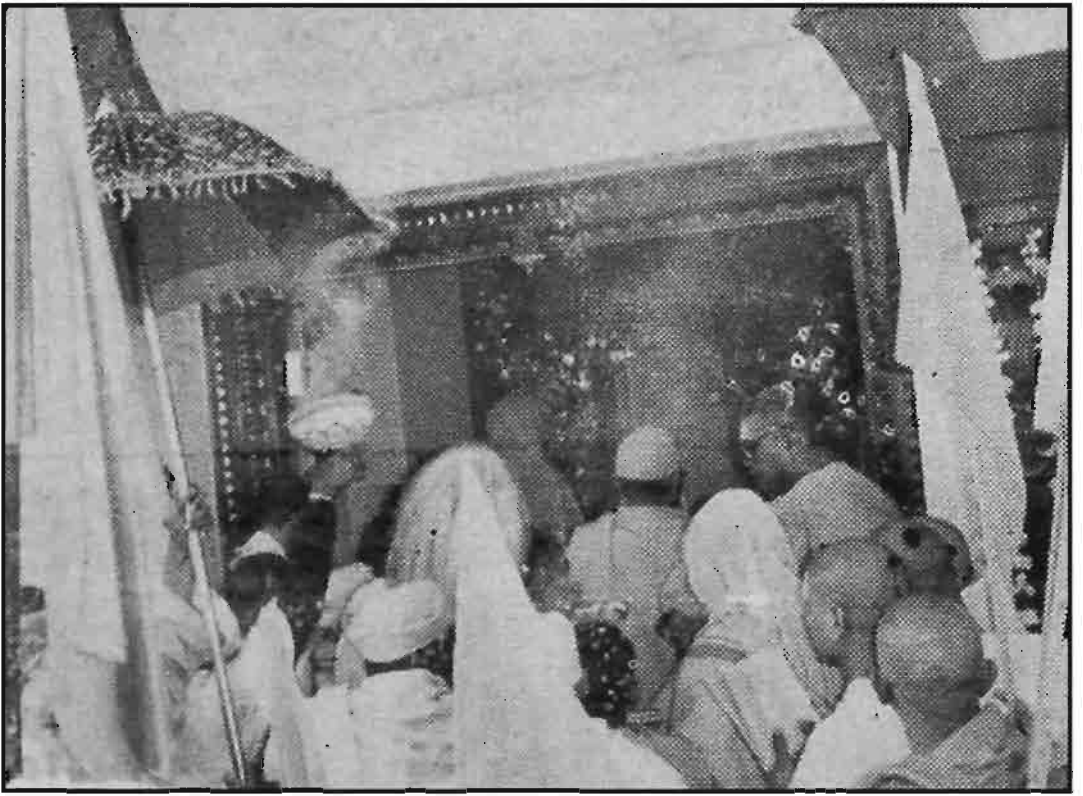
मन्दिर का द्वार उद्घाटित करते हुए स्वामी
वीरेश्वरानन्दजी

श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा करते हुए स्वामी वीरेश्वरानन्दजी

मन्दिर के प्रदक्षिणा-पथ पर महिला-भक्तों की भीड़
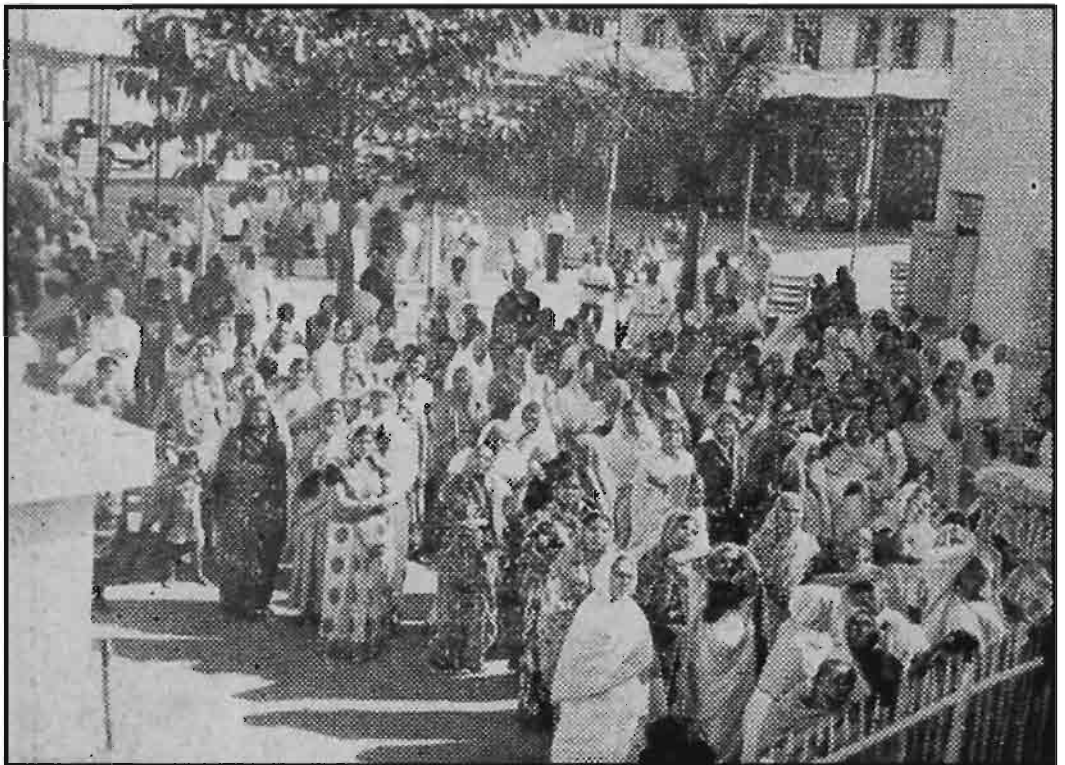
कलश-स्थापना को देखते हुए

सार्वजनिक सभा में (बायें से दायें)–स्वामी आत्मानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी वीरेश्वरानन्दजी, स्वामी व्योमरूपानन्द, स्वामी गौतमानन्द

श्री श्रीमन्नारायण 'स्मारिका' का विमोचन करते हुए।
उनके दाहिनी ओर हैं श्री तेजलाल टेंभरे
(कृषि एवं राजस्व मंत्री, मध्यप्रदेश)।
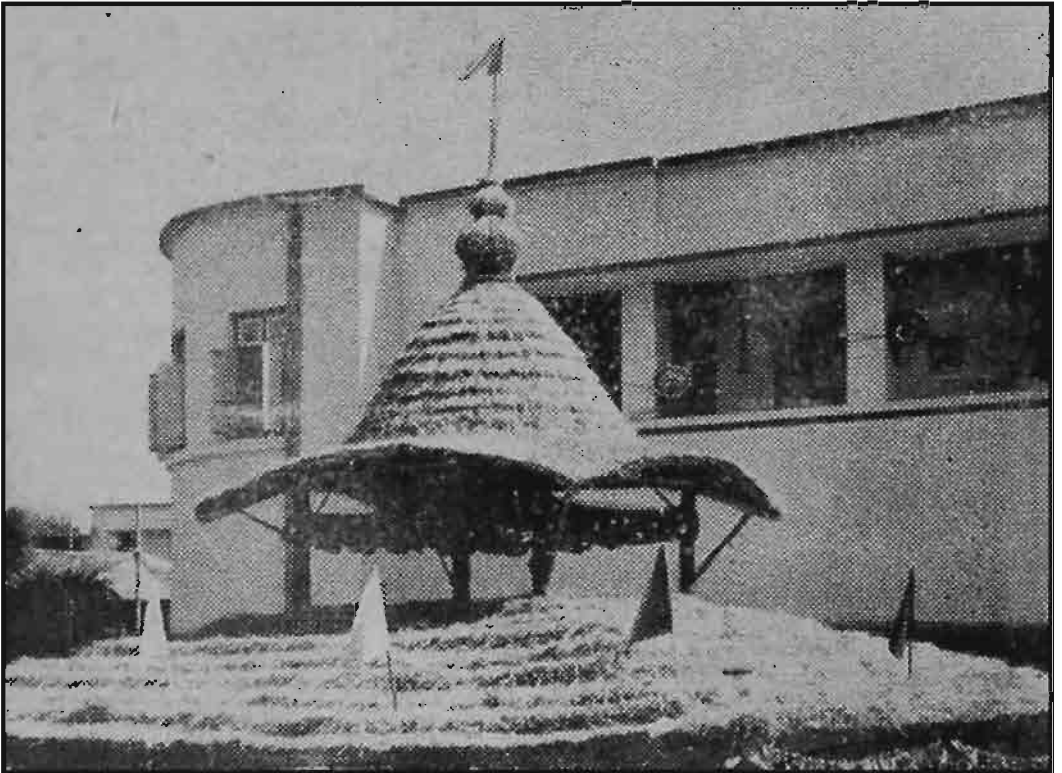
पुण्याहवाचन का कार्य, इसके निमित्त सुन्दर रूप से निर्मित और अलंकृत, यज्ञशाला में सम्पन्न किया तथा अन्य अनुष्ठान पूरे किये। सन्ध्या समय शास्त्रोक्त विधि से विग्रह में देवता कें आवाहन के प्रारम्भिक अनुष्ठान सम्पन्न किये गये।

२ फरवरी को ब्राह्ममुहूर्त में पुराने पूजागृह में मंगल-आरती की गयी और उसके बाद संकीर्तन तथा भजन हुए। जैसे ही निरभ्र आकाश में सूर्य की प्रथम किरणें फैलीं, वैसे ही पुराने पूजागृह से एक शोभा-यात्रा निकली, जिसमें स्वामी अपूर्वानन्द ने श्रीरामकृष्ण का चित्रपट वहन किया, स्वामी गौरीश्वरानन्द नें श्रीमाँ सारदा देवी का, तथा स्वामी हिरण्मयानन्द नें स्वामी विवेकानन्द का। शोभा-यात्रा के आगे आगे रामकृष्ण संघ के संन्यासीगण भगवा पताका लेकर चल रहे थे। सामने एक संन्यासी के सिर पर मंगलघट था। पार्श्व में बछड़े सहित गाय थी। शोभा-यात्रा में श्री छवियों पर अक्षत और पुष्पदल की वर्षा की जा रही थी। आगे आगे रायपुर आश्रम के ब्रह्मचारीगण वैदिक मन्त्रों का सस्वर पाठ करते हुए चल रहे थे और पीछे कीर्तनियों और भजनीकों का दल संकीर्तन करते हुए चल रहा था। रामकृष्ण संघ के देश विदेश के केन्द्रों से आये हुए लगभग साठ संन्यासी, भारत के विभिन्न स्थानों से आये हुए लगभग पाँच सौ भक्त तथा स्थानीय दो हजार भक्त इस शोभा-यात्रा में सम्मिलित हुए थे। संन्यासियों और

भक्तों का दल जलती हुई अगरबत्तियाँ और धूप-धूना लेकर चल रहा था। जब शोभा-यात्रा नवनिर्मित मन्दिर की ओर आयी, तो सारा वातावरण शंखध्वनि एवं हुलूध्वनि के मधुर निनाद से गुंजायमान होकर आध्यात्मिकता से भर उठा। श्री छवियों के ऊपर छत्र सुशोभित था और दोनों पार्श्वों पर चँवर डुलाये जा रहे थे। आगे आगे गंगाजल का अभिसिंचन करते हुए भूमि को शुद्ध किया जा रहा था। इधर यज्ञशाला में पुरोहितों का दल उच्च स्वर से मंत्रोच्चारण करते हुए यज्ञ-कुण्ड में आहुतियाँ प्रदान कर रहा था। इस शोभा-यात्रा ने नवनिर्मित मन्दिर की तीन बार परिक्रमा की। रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष परम पूज्य स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने तीसरी परिक्रमा में भाग लिया और वे मन्दिर के प्रमुख द्वार के निकट आकर खड़े हुए। उन्होंने औपचारिक रूप से मन्दिर के द्वार उद्घाटित किये और मन्दिर में प्रवेश किया। उनके पीछे पीछे शोभा-यात्रा में चलनेवाले संन्यासियों का दल भी श्री छवियों को लेकर मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। अध्यक्ष महाराज ने श्रीरामकृष्ण का चित्रपट वेदी पर रखा, जिस पर श्री विग्रह स्थापित किया गया था। श्रीमाँ सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द के चित्रपट भी भिन्न भिन्न काष्ठ-सिंहासनों पर उनके द्वारा रखे गये। मन्दिर में विशेष पूजा सुबह ७-४० बजे प्रारम्भ हुई। इधर यज्ञ-मण्डप में पुरोहितों ने वास्तुयाग और ग्रहयाग सम्पन्न

किया। तत्पश्चात् कलश-पूजन के उपरान्त कलश-स्थापना की गयी। इन क्रिया-अनुष्ठानों की समाप्ति पर हवन-कर्म सम्पन्न करके मन्दिर को अधिष्ठाता देवता के निमित्त समर्पित कर दिया गया। मन्दिर के भीतर गीता-पाठ और चण्डी-पाठ भी अखण्डरूप से चल रहे थे। ये सारे अनुष्ठान ढाई बजे समाप्त हुए और उसके पश्चात् लगभग तीन हजार भक्तों ने प्रसाद पाया। सन्ध्या साढ़े चार बजे मन्दिर में संन्यासियों और भक्तों के द्वारा श्रीराम-नाम-संकीर्तन गाया गया और छह बजे आरती प्रारम्भ हुई। उसकी समाप्ति पर साढ़े छह बजे से आश्रम के प्रांगण में बने विशाल पंडाल में डा० अरुण कुमार सेन एवं उनके सहयोगियों द्वारा 'गीत-रामायण' का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। कार्यक्रम का प्रारम्भ डा० सेन ने हिन्दी में स्व-रचित श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द सम्वन्धी मधुर गीतों से किया। डा० सेन इन्दिरा संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के उपकुलपति रह चुके हैं और सम्प्रति कमलादेवी संगीत महाविद्यालय, रायपुर के प्राचार्य हैं। 'गीत-रामायण' उन्हीं की हिन्दी में की गयी पद्यबद्ध रचना है, जिसे स्वर भी उन्हीं ने प्रदान किया है। रात्रि में नौ बजे से मन्दिर में काली-पूजा प्रारम्भ हुई, जो तीन बजे भोर तक चलती रही।

३ फरवरी की सुबह श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष स्वामी व्योमानन्द ने हिन्दी में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पर प्रवचन दिया। सन्ध्या साढ़े छह बजे, मन्दिर

में आरती के पश्चात्, बाहर पंडाल में मन्दिर-प्रतिष्ठापन के उपलक्ष में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गयी थी, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द ने की। सभा का प्रारम्भ आश्रम के ब्रह्मचारियों द्वारा सस्वर वैदिक पाठ से हुआ। तत्पश्चात् स्वामी आत्मानन्द ने आश्रम का प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए मन्दिर के निर्माण का इतिहास विशाल जनसमुदाय के सामने रखा और यह बतलाया कि मन्दिर-निर्माण कार्य की पूर्णता का श्रेय इन चार बन्धुओं को है––(१)श्री एम. ई. राजहंस (मानसेवी आर्किटेक्ट) (२)श्री पी. के. भट (मानसेवी इंजीनियर),(३)श्री नानालाल चावड़ा (निपुण शिल्पी, जिनके अथक परिश्रम से मन्दिर समय पर पूर्ण हो सका) तथा (४) श्री तुंगनराम चन्द्राकर (जो इन विभिन्न कार्यों के मानसेवी प्रबन्धक थे)। स्वामी वीरेश्वरानन्द जी ने सर्वप्रथम इन चारों बन्धुओं को श्रीफल और शाल प्रदान कर सम्मानित किया तत्पश्चात् अँगरेजी में अपना आशीर्वचन देते हुए उन्होंने श्रीरामकृष्ण-मदिर की आवश्यकता पर बल दिया। स्वामी आत्मानन्द ने उनके इस भाषण का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। फिर श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर के अध्यक्ष स्वामी व्योमरूपानन्द ने 'सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' इस विषय पर भाषण दिया। अपना अध्यक्षीय भाषण अँगरेजी में देते हुए स्वामी रंगनाथानन्द ने इस बात पर बल दिया कि रायपुर में इस मन्दिर के निर्माण का विशेष महत्त्व है। उन्होंने

श्रोताओं का ध्यान श्रीरामकृष्ण के उस कथन की ओर आकर्षित किया, जो उन्होंने नरेन्द्र से कभी कहा था, "जहाँ तू रखेगा, मैं वहीं रहूँगा।" और चूँकि नरेन्द्र के दो वर्ष के निवास से धन्य रायपुर की इस भूमि में श्रीरामकृष्ण का यह मन्दिर प्रतिष्ठित हुआ है, इसलिए रायपुर 'महातीर्थ' का एक विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेता है। स्वामी आत्मानन्द ने हिन्दी-भाषी श्रोताओं के लाभार्थ इस भाषण का भी हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया और कार्यक्रम बम्बई से आये हुए स्वामी गौतमानन्द के मधुर समापन गीत से समाप्त हुआ। सभा में ४,००० से भी अधिक लोग उपस्थित थे।

४ फरवरी की सुबह स्वामी व्योमरूपानन्द ने श्रीमद्-भगवद्गीता पर प्रवचन किया। सन्ध्या ६॥ बजे सर्वधर्म-सम्मेलन का कार्यक्रम आयोजित था, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के सहायक महासचिव स्वामी हिरण्मयानन्द ने की। सात धर्मों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया--हिन्दू धर्म पर स्वामी व्योमरूपानन्द ने, यहूदी धर्म पर दुर्ग निवासी एडवोकेट श्री कनक कुमार तिवारी ने, जैन धर्म पर शिक्षण महाविद्यालय रायपुर के प्राचार्य डा० एस. सी. जैन ने, बौद्ध धर्म पर दुर्गा महाविद्यालय रायपुर के दर्शन विभाग के व्याख्याता डा० लक्ष्मण प्रसाद मिश्र ने, ईसाई धर्म पर शासकीय महा-विद्यालय दुर्ग की प्राध्यापिका डा० (श्रीमती) माया अरोरा ने, इसलाम धर्म पर शिक्षण महाविद्यालय रायपुर के

प्राध्यापक श्री शमसुद्दीन ने तथा सिख धर्म पर ज्ञानी श्री रणजीतसिंह ने । स्वामी हिरण्मयानन्द ने अँगरेजी में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा कि श्रीरामकृष्ण का व्यक्तित्व अपूर्व था, वे 'सर्वधर्मस्वरूप' थे तथा उनको उत्सर्गित किया गया यह मन्दिर भी सर्वधर्मसमन्वय का प्रतीक है । तत्पश्चात् स्वामी आत्मानन्द ने इस व्याख्यान का संक्षेप में हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया ।

५ मार्च की सन्ध्या ६॥ बजे सुप्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तक श्री श्रीमन्नारायण ने विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन किया । वे पूर्व में नेपाल में भारत के राजदूत रह चुके हैं तथा गुजरात प्रदेश के राज्यपाल । उन्होंने 'मन्दिर-प्रतिष्ठापन स्मारिका' का विमोचन भी किया । इस कार्यक्रम की अध्यक्षता मध्यप्रदेश शासन के कृषि एवं राजस्व मंत्री श्री तेजलाल टेंभरे ने की । अन्त में श्री टेंभरे ने आश्रम द्वारा आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं में विजयी संस्थाओं एवं छात्र-छात्राओं को पुरस्कार वितरित किया ।

६ से १५ फरवरी तक रामचरितमानस के प्रकाण्ड विद्वान् पं० रामकिंकर उपाध्याय का सारगर्भित रामायण-प्रवचन हुआ । १६ से २५ फरवरी तक वृन्दावन के सुप्रसिद्ध भागवती श्री अतुलकृष्ण गोस्वामी का श्रीमद्-भागवत पर हृदयग्राही प्रवचन हुआ । २६ से २८ फरवरी तक कु० सरोजबाला के तथा २७-२८ फरवरी को श्री विष्णु अरोड़ा के अत्यन्त सरस एवं प्रेरणापूर्ण

प्रवचन हुए। धुरकोट (बिलासपुर) निवासी ठाकुर रणजीतसिंह ने २५ से २७ फरवरी तक 'हनुमत्-चरित' पर सुन्दर प्रवचन किया। स्वामी आत्मानन्द ने २५ एवं २९ फरवरी को 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द' पर प्रवचन किया।

इन समस्त कार्यक्रमों में प्रतिदिन दस हजार से भी अधिक श्रोता उपस्थित रहते थे। ३८ दिन व्यापी इस समारोह का समापन २९ फरवरी को हुआ। बाहर से आये हुए ५० संन्यासियों तथा ५०० भक्तों के निवास एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था की गयी थी। सभी कार्यक्रम सुचारु रूप से सम्पन्न हुए और आये हुए संन्यासियों और भक्तों ने परम तृप्ति और आनन्दपूर्वक इन कार्यक्रमों का रसास्वादन किया।

जो इन कार्यक्रमों में उपस्थित नहीं हो सके, ऐसे बहुसंख्य 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ निम्नलिखित भाषणों को प्रकाशित कर रहे हैं--

(१) स्वामी आत्मानन्द द्वारा प्रस्तुत मन्दिर-निर्माण का इतिहास।
(२) परमपूज्य स्वामी वीरेश्वरानन्दजी द्वारा प्रदत्त आशीर्वचन।
(३) स्वामी व्योमरूपानन्द द्वारा प्रदत्त भाषण।
(४) स्वामी रंगनाथानन्द द्वारा प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण।
(५) स्वामी हिरण्मयानन्द द्वारा प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण।

श्रीरामकृष्ण मन्दिर का निर्माण

एक संक्षिप्त इतिहास

स्वामी आत्मानन्द

सन् १९६० ई० का जुलाई महीना। दूसरा रविवार। श्री आशुतोष विश्वास के बैरन बाजार स्थित निवास-स्थान पर श्रीरामकृष्ण सेवा समिति की बैठक आयोजित थी। समिति के अध्यक्ष तथा दुर्गा महाविद्यालय के प्राचार्य श्री एम. व्ही. रामचन्द्रन ने प्रस्ताव रखा कि १९६३ में स्वामी विवेकानन्द जी की जन्मशताब्दी मनाये जाने के सन्दर्भ में रायपुर में एक आश्रम की स्थापना की जाय। चूँकि स्वामी विवेकानन्द ने अपने बचपन के दो वर्ष (१८७७ से १८७९) रायपुर में बिताये थे, इसलिए उक्त प्रस्ताव मे इस बात पर बल दिया गया कि आश्रम को स्वामी विवेकानन्द के एक उपयुक्त स्मारक का रूप प्रदान किया जाय। यह भी तय किया गया कि विवेकानन्द जी का उपयुक्त स्मारक उनके गुरु भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का एक मन्दिर ही होगा। उक्त बैठक में मध्यप्रदेश शासन के लोक निर्माण विभाग के कार्यपालन यंत्री श्री के. एल. राव भी उपस्थित थे। उन पर यह भार डाला गया कि वे प्रस्तावित मन्दिर का नक्शा बनाकर अगली बैठक में पेश करें, जिससे स्मारक-निर्माण की दिशा में आगे बढ़ा जा सके। तदनुसार श्री राव ने एक नक्शा तैयार कर दिया।

पर मैं चाहता था कि पहले कुछ सेवा-कार्यों की स्थायी व्यवस्था कर दी जाय और तदनन्तर सुविधा और

सुयोग देख मन्दिर का निर्माण किया जाय। समिति के सदस्यों ने यह बात भी पसन्द की और मन्दिर-निर्माण का कार्य उस समय स्थगित कर दिया गया।

इस बीच श्रीरामकृष्ण सेवा समिति को दानस्वरूप वर्तमान भूमिखण्ड प्राप्त हुआ और अप्रैल १९६२ में समिति का कार्यालय बूढ़ापारा स्थित अपने किराये के मकान से वर्तमान भूमिखण्ड पर स्थानान्तरित हो गया। इस समय समिति को दो मित्र प्राप्त हुए--श्री एस. के. भट्टाचार्य, जो भिलाई इस्पात संयंत्र में खनि अधीक्षक थे और श्री एस. जी. इनामदार, जो मध्यप्रदेश शासन के सिंचाई विभाग में उपमुख्ययंत्री के पद पर अधिष्ठित थे। जब श्री भट्टाचार्य को विदित हुआ कि समिति नें अपनी एक बैठक में स्वामी विवेकानन्द जन्म-शताब्दी मनाने के लिए श्रीरामकृष्ण-मन्दिर-निर्माण की योजना बनायी है, तो वे प्रसन्न हुए और उन्होंनें हमें आर्थिक सहयोग देने का आश्वासन दिया। उन्होंने कहा कि मन्दिर अवश्य बनना चाहिए, जिससे समिति को आश्रम का रूप प्राप्त होगा और लोगों को प्रेरणा मिलेगी। अतः यही तय हुआ कि मन्दिर का निर्माण-कार्य फरवरी १९६४ में श्रीरामकृष्ण देव की जन्मतिथि से प्रारम्भ कर दिया जाय। इस बैठक में मन्दिर का पूर्व में बनाया हुआ नक्शा भी पेश किया गया था। कई लोगों को मन्दिर का आकार छोटा लगा। उन्होंने सुझाव दिया कि मन्दिर का निर्माण भविष्य का अनुमान करके बनाना चाहिए, उसमें इतनी

जगह हो कि २५०-३०० व्यक्ति बैठ सकें। पहले समिति के लोगों ने श्री राव से अनुरोध किया था कि लगभग १०० लोगों के बैठने लायक मन्दिर बना दीजिए। उन्होंने तदनुसार व्यवस्था की थी। लागत भी कम थी--पचीस हजार रुपये। अब इस बैठक में समिति के सदस्यों नें निर्णय लिया कि मन्दिर का निर्माण विशेष प्रकार से होना चाहिए। श्री इनामदार ने कहा कि मध्यप्रदेश शासन के मुख्य शिल्पी श्री डी. जे. करंजगाँवकर उनके मित्र हैं और वे उनसे एक अच्छा नक्शा बनवा लेंगे। अतः समिति ने नया नक्शा तैयार करवाने का भार श्री इनामदार को सौंपा। श्री इनामदार ने श्री करंज-गाँवकर से नक्शा तैयार करा अगली बैठक में विचारार्थ रखा। नक्शा सुन्दर बना था--विशेष शिल्प और आकार वाला था। लागत १॥ लाख रुपये कूँती गयी थी। श्री भट्टाचार्य नें धनसंग्रह में अपना पूरा सहयोग प्रदान करने का आश्वासन दिया और प्रारम्भिक सहायता के रूप में उन्होंने दस हजार रुपया इकट्ठा भी करवा दिया। श्री इनामदार ने 'सिम्प्लेक्स' वालों से लिखा-पढ़ी कर मन्दिर में होनेवाले लोहे के काम का सारा नक्शा और एस्टीमेट भी तैयार करके मँगा लिया तथा साथ ही अपने सहायक इंजीनियर श्री विश्वेश्वर अय्यर आदि के द्वारा इस प्रस्तावित मन्दिर के सारे नक्शे, डिजाइन्स और सम्पूर्ण एस्टीमेट्स आदि बनवा दिये। आश्रम के परम सेवाव्रती इंजीनियर श्री नागोराव जी० मायेस्कर तो कार्य करने के

लिए तैयार थे ही। ये सब नक्शे प्राप्त होते ही आश्रम के प्रांगण में मन्दिर का स्थान तय किया गया और नींव की खुदाई फरवरी १९६४ को, श्रीरामकृष्ण देव के जन्म-दिवस से, शुरू कर दी गयी।

इतने में दो बातें हो गयीं। एक तो पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियों का जत्था पर जत्था भारत आने लगा और भारत शासन उन लोगों को माना कैम्प में बसाने के उद्देश्य से भेजता रहा। दृश्य बड़ा कारुणिक था। इन लोगों की तुरन्त सेवा अनिवार्य थी। अतः एक नागरिक समिति बनायी गयी, जिसमें मुझे अध्यक्ष मनोनीत किया गया। इस समिति के माध्यम से बड़े पैमाने पर इन विस्थापितों के लिए राहत कार्य प्रारम्भ कर दिये गये। तत्कालीन संभागीय आयुक्त महाराज श्री वीरभद्रसिंह और माना शिविर समूहों के प्रमुख श्री शैवाल गुप्त सहायता का जैसा भी निर्देश देते, नागरिक समिति तत्क्षण उसे पूर्ण करती। कुछ ही समय बाद बेलुड़मठ से रामकृष्ण मिशन के संन्यासी भी इस राहत कार्य के लिए भेजे गये और समिति ने रामकृष्ण मिशन के साथ मिलकर दस माह व्यापी सेवाकार्य किया, जिसमें कुल दो लाख रुपय व्यय हुए और समिति ने इसमें मन्दिर तथा अपने अन्य मदों का धन भी व्यय कर दिया। मन्दिर-निर्माण-कार्य तो राहत कार्यों के सन्दर्भ में पहले ही बन्द कर दिया गया था। जब राहत कार्य नवम्बर १९६४ में समाप्त हुआ, तब तक दूसरी बात यह हुई कि श्री भट्टाचार्य भी

स्थानान्तरित हो अन्यत्र चले गये। अतः धन की समस्या भी सामने थी। फिर, मन्दिर के लिए तुरन्त धनसंग्रह सम्भव भी नहीं था। अतः यह निश्चय लिया गया कि मन्दिर की खुदी नींव को मिट्टी से पाट दिया जाय और बाद में सुविधा देख उसका निर्माण हाथ में लिया जाय। तदनुसार नींव भर दी गयी और एक बार पुनः मन्दिर-निर्माण की योजना का पटाक्षेप हो गया।

७ अप्रैल १९६८ को श्रीरामकृष्ण सेवा समिति की सारी चल और अचल सम्पत्ति विश्वव्यापी संस्था रामकृष्ण मिशन को समर्पित कर दी गयी और इस प्रकार समिति का विलय रामकृष्ण मिशन में हो गया तथा उसने ८ अप्रैल १९६८ से 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम' के नये नाम से कार्यारम्भ कर दिया। इस बीच समिति नें अपने नियमित सेवा-कार्यों के व्यापक प्रसार से जनसाधारण के हृदय में अपना स्थान बना लिया था। उसके द्वारा आयोजित धार्मिक समारोह विशेष जनप्रिय हुआ करते थे। जब से समिति 'आश्रम' के रूप में पर्यवसित हुई, बहुत से लोगों नें यह उत्कण्ठा व्यक्त करना आरम्भ किया कि मन्दिर-निर्माण की योजना का क्या हुआ। अनेकों नें मन्दिर-निर्माण कोश में अपना अंशदान देना प्रारम्भ किया और आश्रम-सचिव से यह अनुरोध किया कि उनके द्वारा अर्पित राशि मन्दिर-निर्माण हेतु ही व्यय की जाय। इस प्रकार मन्दिर-निर्माण कोश में धीरे धीरे राशि संचित होने लगी।

इस बीच मन्दिर के नक्शे में एक और परिवर्तन हो गया। मैं अपने दक्षिण भारत प्रवास के दौरान बँगलोर आया। वहाँ के श्रीरामकृष्ण आश्रम में बनें मन्दिर ने मुझे आकर्षित किया। मैंने रायपुर लौटकर आश्रम की बैठक में सुझाव दिया कि रायपुर का मन्दिर भी बँगलौर के मन्दिर के समान होना चाहिए। मैंने बेंगलौर के मन्दिर के चित्र और नक्शे आश्रम की प्रबन्ध समिति के समक्ष रखे और सभी ने उसे पसन्द किया। श्री करंजगाँवकर के द्वारा बनाया गया नक्शा सुन्दर तो था, उसमें एक नवीनता भी थी, पर उसका आकार ऐसा था, जो आश्रम कें प्रांगण में ठीक ढंग से बैठ नहीं पा रहा था। पहले जहाँ पर मन्दिर की नींव की खुदाई की गयी थी, वह स्थान मन्दिर के लिए ठीक नहीं जँच रहा था। इसलिए अब मन्दिर के ऐसे नक्शे की आवश्यकता थी, जो आश्रम-प्रांगण की खाली जमीन में शोभनरूप से जम जाय। बँगलोर का मन्दिर इस दृष्टि से भी उपयुक्त जंचा, इसलिए उसके नक्शों के आधार पर रायपुर के मन्दिर के लिए नक्शे बना लिये गये। इसकी लागत भी पूर्व के ही समान लगभग १॥ लाख रुपय आँकी गयी थी। जब रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज नवम्बर १९६९ में प्रथम बार रायपुर पधारे, तो उनके करकमलों द्वारा १४ नवम्बर को इस 'श्रीरामकृष्ण मन्दिर' का विधिवत् शिलान्यास भी करा लिया गया।

इस बीच लगभग ३ वर्ष और बीत गये, पर मन्दिर-

निर्माण का कार्य शुरू नहीं हो पाया। मन्दिर-निर्माण कोश में अपने आप जो रकम आती, वही जमा होती। दानदाताओं से अनुरोध किया जाता कि मन्दिर के बदले वे धर्मार्थ औषधालय अथवा ग्रन्थालय के मद में अपना दान दें। कई दानदाता सहमत होकर वैसा करते, पर जो नितान्त मन्दिर के निर्माण हेतु ही धन देना चाहते, उन्हीं की राशि संग्रहित होती रही।

सितम्बर १९७२ में मैं अपनी अमरनाथ-यात्रा से वापस लौटता हुआ श्रीवृन्दावनधाम के दर्शन करने के लिए रुका। वहाँ रामकृष्ण आश्रम के निर्माणाधीन मन्दिर को देखा। वह बेलुड़ मठ में बने मन्दिर की एक छोटे पैमाने पर प्रतिकृति ही था। बेलुड़ मठ का भव्य मन्दिर श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा निर्मित हुआ था। विज्ञानानन्द जी पूर्व आश्रम में एक कुशल इंजीनियर थे। स्वामी विवेकानन्द जी अपने इन गुरुभाई को अपने साथ राजस्थान आदि के भ्रमण पर ले गये थे और यह बताया था कि बेलुड़ मठ का मन्दिर किस प्रकार बनेगा। वे ४ जुलाई १९०२ को महासमाधि में लीन हो गये और मन्दिर का शिलान्यास १९३५ ई० में स्नानयात्रा के दिन हुआ था। बेलुड़ मठ के मन्दिर में कई परम्परागत शिल्पों का सुन्दर समन्वय हुआ है। वह भूरे चुनार पत्थर से निर्मित हुआ है और पूर्वी एवं पश्चिमी शिल्पों की प्रमुख विशिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करता है। एक भारतीय कला-समीक्षक उसके सम्बन्ध

में कहते हैं--"जब हम द्वार पर खड़े होते हैं और अन्दर मण्डप में प्रवेश करते हैं, हमें अचानक प्राचीन बौद्ध गुहा-मन्दिरों की याद हो आती है। अनेक मेहराबदार छज्जे और वातायन राजपूत और मुगल श्रेणी के शिल्प की याद दिलाते हैं। दर्शकों की उपासना के लिए बना विशाल मण्डप गिरजाघर की स्मृति जगा देता है। गर्भगृह पर बने गुम्बद और प्रकोष्ठ बंगाल के हिन्दू मन्दिरों का संकेत देते हैं।" इस प्रकार वह मानो श्रीरामकृष्ण देव के सार्वजनीन और समन्वयात्मक दृष्टिकोण की प्रस्तरमयी सुन्दर व्याख्या है।

वृन्दावन के इस मन्दिर को देख मुझे ऐसा लगा कि बेलुड़ मठ के मन्दिर की एक छोटी प्रतिकृति भी बनायी जा सकती है। बेलुड़ मठ के मन्दिर की भव्यता और गरिमा अपने ही ढंग की है। मैंने वहीं निश्चय किया कि मन्दिर बने तो इसी प्रकार का बने। मैंने वृन्दावन में बन रहे मन्दिर के नक्शों की एक एक प्रति ली और रायपुर लौटा। यहाँ जब आश्रम की बैठक में मैंने इस मन्दिर का नक्शा रखा, तो उपस्थित सभी सदस्यों ने एक मत से कहा कि ऐसा ही मन्दिर यहाँ के लिए भी उपयुक्त होगा। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव ४ नवम्बर की इस बैठक में पारित भी कर लिया गया।

इस निर्णय के बाद नक्शे पर काम करना तय किया गया। भिलाई इस्पात संयंत्र के सीनियर आर्किटेक्ट श्री एम. ई. राजहंस सदैव की भाँति अपनी निःस्वार्थ सेवा अर्पित करने सामने आये और उन्होंने सहर्ष रायपुर के

मन्दिर के लिए वृन्दावन मन्दिर के आधार पर नक्शे बनाकर देना स्वीकार कर लिया, और साथ ही उसकी देख-रेख का भार भी अपने ऊपर लेना मंजूर किया। इसी प्रकार हमारे सेवाव्रती मानसेवी इंजीनियर श्री पी. के. भट ने भी हमें अपनी सेवाएँ अर्पित करते हुए आश्वस्त कर दिया।

अब इस नक्शे की 'डिटेल्ड वर्किंग' आवश्यक थी। हमने प्रान्तीय शासन के सिंचाई विभाग के सम्प्रति मुख्य अभियन्ता श्री जे. व्ही. मेहता से सम्पर्क साधा और अपनी कठिनाई उनके समक्ष रखी। उन्होंने उदारतापूर्वक इस कार्य का भार अपने ऊपर लिया और तीन महीने के अन्दर मन्दिर के सारे नक्शे, डिटेल्ड एस्टीमेट्स, आयर्न वर्क आदि के नक्शे बनाकर दे दिये। यह एक बड़ा काम था और श्री मेहता ने अपने सहायकों के साथ अपनी पूजा के अर्घ्य के रूप में यह सारा कार्य कर दिया। मन्दिर की लागत सवा दो लाख रुपये आँकी गयी।

सदैव की ही भाँति भिलाई इस्पात संयंत्र के सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर श्री जी. सी. राघवन तथा सीनियर टेलीकाम इंजीनियर श्री जे. पी. खिचरिया ने अपने ज्ञान और अनुभव का हमें लाभ दिया। गुम्बद आदि की जटिल डिजाइनों में श्री राघवन के सुझाव और निर्देश बहुमूल्य थे। प्रान्तीय शासन के सिंचाई विभाग के कार्यपालन यंत्री श्री धीरेन्द्र कुमार वर्मा ने मन्दिर के प्रस्तर-शिल्प कार्य में हमें बड़ा सहयोग प्रदान किया। और इस प्रकार इन सेवाव्रती बन्धुओं के सम्मिलित उद्यम और लगन से

मन्दिर-निर्माण का कार्य ६ मार्च १९७३ को भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की जन्मतिथि के पावन पर्व पर औपचारिक रूप से प्रारम्भ कर दिया गया। श्री भट और श्री राजहंस के उद्यम से मन्दिर का कार्य क्रमशः आगे बढ़ने लगा।

इस निर्माण-कार्य को प्रारम्भ हुए १॥ वर्ष ही हुआ था और कार्य गति पकड़ने लगा था कि इतने में छत्तीसगढ़ सूखे की विभीषिका से घिरने लगा। सितम्बर १९७४ में सर्वत्र हाहाकार की ध्वनि सुनायी पड़ने लग गयी। आश्रम ने तत्काल मन्दिर-निर्माण का कार्य स्थगित कर दिया और ८ अक्तूबर से मन्दिर-निर्माण-कोश के धन से रायपुर और दुर्ग जिलों में राहत कार्य शुरू कर दिये। ये राहत कार्य लम्बे दस महीने तक चलते रहे। अगस्त १९७५ तक आश्रम ने इन कार्यों पर आठ लाख रुपय से भी अधिक राशि व्यय की। इसमें मन्दिर-निर्माण में लगनेवाली तीन लाख रुपय की राशि भी सम्मिलित थी।

ईश्वर की कृपा से १९७५ की बरसात अच्छी रही और सर्वत्र प्रसन्नता की लहर, फसल अच्छी होने के कारण, फैल गयी। अगस्त में राहत कार्य बन्द कर आश्रम ने फिर से मन्दिर-निर्माण कार्य हाथ में लेने की सोची। पर मन्दिर-कोश का सारा पैसा चुक गया था। अतः आश्रम अपने वरिष्ठ संस्थापक सदस्य श्री महन्त लक्ष्मीनारायण दास एवं अपने अध्यक्ष श्री कांजीभाई राठोर का सक्रिय सहयोग प्राप्त कर, अपने अन्य सहयोगियों के साथ इस तीन लाख रुपय के 'डेफिसिट' को

पूरा करने में लग गया। ईश्वर की कृपा तो थी ही, अतः जनसाधारण का सहयोग भी सन्तोषजनक रूप से प्राप्त हुआ और अगस्त से ही एक बार पुनः मन्दिर-निर्माण का कार्य तेजी से शुरू हो गया। हम लोगों ने सबसे सलाह लेकर मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की तिथि भी निश्चित कर ली और उसकी घोषणा भी कर दी। इस प्रकार मन्दिर के प्रतिष्ठापन के लिए २ फरवरी १९७९ की तिथि निश्चित कर एक भव्य उत्सव की तैयारियाँ शुरू कर दी गयीं और विश्वव्यापी रामकृष्ण संघ के पूज्यपाद अध्यक्ष महाराज को मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा करने हेतु सादर आमंत्रित किया गया। अध्यक्ष महाराज से इस तिथि की स्वीकृति प्राप्त होने पर रामकृष्ण संघ के देश और विदेश स्थित सभी केन्द्रों को इस महोत्सव में भाग लेने हेतु निमंत्रण पत्र भेज दिये गये।

इस बीच एक अड़चन आ गयी। श्री राजहंस को विशेष कार्यवश लम्बी छुट्टी लेकर बाहर जाना पड़ा। ऐसा लगा कि अब कार्य समय पर नहीं हो पाएगा। सभी चिन्तित हो गये कि अब क्या होगा। घोषणा तो हो चुकी थी, निमंत्रण जा चुके थे। ऐसा भी विचार किया जाने लगा कि घोषित तिथि का स्थगन कर दिया जाय और सबको वैसी सूचना दे दी जाय। इस बीच हमारे मानसेवी इंजीनियर श्री भट ऐसे व्यक्ति की तलाश कर रहे थे, जो शिल्पी भी हो और स्थपति भी और जो सारा समय इस कार्य के लिए दे सके, और वे अन्ततः

श्री नानालाल भाई चावड़ा को खोज लाने में सफल हो ही गये। ईश्वर को जब कोई कार्य कराना होता है, तो वे साधन जुटा ही देते हैं।

श्री नानालाल भाई रायपुर के ही हैं और 'चावड़ा सीमेन्ट वर्क्स' के स्वामी हैं। उन्हें स्थापत्य और शिल्प की यह विद्या अपने पिता श्री मूलजी भाई से विरासत में मिली है। वे मिट्टी में छिपे हीरे के समान हैं। श्री भट ने मुझसे नानालाल भाई का परिचय कराते हुए कहा कि यदि मन्दिर को समय पर पूर्ण करना है, तो इनकी सेवा ली जाय। अनुरोध करने पर नानालाल भाई राजी हो गये और आश्रम की विषम स्थिति, कार्य की विशालता तथा समय की संक्षेपता को देख उन्होंने अपना कारखाना बन्द कर दिया और १५ सितम्बर १९७५ से मन्दिर-निर्माण का सारा कार्यभार अपने कन्धों पर ले लिया। मन्दिर का काम बहुत बाकी था और समय था मात्र ४ महीने का। यह असम्भव सा दिखनेवाला कार्य था। जो भी मन्दिर को देखता, कहता कि इसे पूरा होने में कम से कम एक वर्ष और लगेगा। और एक वर्ष का काम चार महीने में पूरा करके देना सचमुच बड़ी ही कठिन बात थी। पर श्री नानालाल भाई ने हिम्मत दिलायी और अपने विशेष अनुभवी मिस्त्रियों और कारीगरों को बुलाकर योजनाबद्ध रूप से वे मन्दिर-निर्माण में जुट गये। इस बीच नगर के प्रसिद्ध आर्किटेक्ट श्री टी. एम. घाटे से भी कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त

हुए। पर मन्दिर का इतने अल्प समय के भीतर ऐसा कलात्मक और सुन्दर निर्माण श्री नानालाल भाई की ही प्रतिभा है, उन्हीं के अथक परिश्रम का फल है। वे सचमुच हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

इन सब कार्यों को गति प्रदान करनेवाले और महोत्सव के इस महान् यज्ञ के अंग-प्रत्यंग को पुष्ट करनेवाले सर्वत्र अनुस्यूत सजग और सचेत तत्त्व रहे हैं--सेवाव्रती दाऊ तुंगनराम चन्द्राकर, जिन्होंने दशबाहु होकर दिन-रात एक कर दिया है। मन्दिर निर्माण का सारा श्रेय श्री राजहंस, श्री भट, श्री नानालाल भाई एवं श्री तुंगनराम चन्द्राकर इन चारों बन्धुओं को है। इनके प्रति हम हृदय का आभार प्रकट करते हैं।

मन्दिर तीन मंजिलों में बना है। नीचे की मंजिल तलघर के रूप में है, जहाँ सामने की ओर बड़ा कक्ष है, जिसमें आश्रम के अन्तेवासियों के लिए शास्त्र-कक्षाएँ लगेंगी। बीच का भाग नैवेद्य और भोगभण्डार तथा मन्दिर का स्टोर है। पीछे का भाग ध्यान-कक्ष के रूप में निर्मित हो रहा है, जहाँ बाहर की ध्वनि प्रवेश नहीं कर पायेगी। इसमें ध्यान का अभ्यास किया जा सकेगा। बीच की मंजिल में गर्भगृह है, जहाँ श्रीरामकृष्ण देव की संगमर्मर की मूर्ति प्रस्थापित है। इस मूर्ति को कलकत्ते के जी०पाल एण्ड संस ने तैयार किया है। गर्भगृह के आजू-बाजू दो कक्ष हैं और पीछे में 'शयनकक्ष' है। सामने मण्डप है, जहाँ लगभग ३०० लोग बैठकर प्रार्थना

कर सकते हैं। सबसे ऊपर की मंजिल में सामने की ओर नौबतखाना और पीछे की ओर प्रमुख गुम्बद के नीचे कक्ष हैं। मन्दिर की लम्बाई ९७ फुट और चौड़ाई ६६ फुट है। पीछे के मुख्य गुम्बद की ऊंचाई ५८ फुट और सामने के केन्द्रीय गुम्बद की ४० फुट है। यद्यपि १९७२ में इस मन्दिर की लागत सवा दो लाख रुपय कूंती गयी थी, पर बीच के वर्षों की मँहगाई ने उसे ५ लाख तक पहुँचा दिया और मन्दिर-निर्माण पर अब तक ४ लाख ९३ हजार रुपये व्यय हुए हैं। लगभग ३० हजार रुपये का काम अभी और बाकी है।

मन्दिर-निर्माण में अन्य जिन लोगों नें कार्य किया है, वे प्रमुखत: निम्नलिखित हैं:-- सर्वश्री गोपाल ठेकेदार (जनरल), छेदीलाल (प्लास्टर कार्य), दादू (लकड़ी पर नक्काशी का कार्य), मधुकर (पेंटर), गणेश (प्रस्तर कार्य), बशीर एवं फैज मुहम्मद (संगमर्मर), भैयालाल यादव(पालिश और रंग), नजीमुद्दीन(बिजली फिटिंग)।

मन्दिर-निर्माण का कार्य समय पर पूर्ण हो सका, यह श्रीभगवान् की ही महती कृपा का फल है। समय की अल्पता तो थी ही, धन का भी अभाव था। राहत कार्यों में मन्दिर-निर्माण के तीन लाख रुपय व्यय कर दिये जाने के फलस्वरूप धन की समस्या भी विकराल रूप लेकर खड़ी हो गयी थी। इस समस्या के निवारण में हमें कई मित्रों से सहायता मिली। सबके नामों का उल्लेख करना तो सम्भव नहीं है, पर कुछ विशिष्ट नामों का उल्लेख न करना भी उचित न होगा।

बिड़ला परिवार की, बम्बई निवासिनी, श्रीमती गोपीकुमारी बिड़ला के नाम का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहूँगा, जिन्होंने धन संग्रह अभियान में अत्यधिक रुचि ली और विभिन्न स्थानों से धन संग्रह कर आश्रम को दिया। सबसे उल्लेखनीय दान 'बिड़ला बालिका विद्या-मन्दिर' की छोटी छोटी बच्चियों का है, जिन्होंने श्रीविग्रह की वेदी के निर्माणार्थ एक ही दिन में ११०००) से भी अधिक राशि एकत्र कर मुझे सौंप दिया। (जोरों की तालियाँ।) इसका सारा श्रेय श्रीमती गोपीबेन को ही है। बम्बई के ही श्री पुष्पकुमार एम. डी. ठाकरसी एवं श्री हर्षद जोशी के माध्यम से भी हमें उल्लेखनीय सहायता प्राप्त हुई। इन सबके प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

नागपुर के भूगर्भशास्त्री श्री एम. सूर्यनारायण हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिनकी अथक चेष्टा के फलस्वरूप मन्दिर-निर्माण कोश रिक्त नहीं हो पाया और निर्माण का कार्य अबाध गति से आगे बढ़ता रहा।

आश्रम की प्रबन्ध समिति के वरिष्ठ सदस्य महन्त लक्ष्मीनारायण दास, समिति के अध्यक्ष श्री कांजीभाई राठोर, समिति के सदस्य डा० ज्वालाप्रसाद मिश्र (अक-लतरा), श्री राजेन्द्रकुमार सिंह (अकलतरा), श्री तुंगन-राम चन्द्राकर, डा०बी. सी. गुप्ता, श्री कान्तिलाल रूढ़ा-भाई सावरिया, श्री किशनलाल सिंघानिया, स्व. श्री ग्वाल-दास डागा, श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल तथा श्री धनीराम वर्मा के प्रति भी हम आभारी हैं, जिनका सतत प्रयास मन्दिर-निर्माण कोश को भरता रहा है।

हम श्री सुविमल चटर्जी (प्राचार्य, लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी), श्री श्यामसुन्दर चटर्जी (कवर्धा), श्री रामलाल चन्द्राकर (नारा), श्री दादूलाल चन्द्राकर (छतौना), श्री सदाराम चन्द्राकर (औंरी), इन्दौर स्थित श्रीरामकृष्ण आश्रम के अध्यक्ष श्री जी. के. सेठ एवं उपाध्यक्षा श्रीमती रत्नाप्रभा सेठ, भिलाई स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल के अध्यक्ष श्री जे. पी. खिचरिया एवं अन्य पदाधिकारीगण, श्री हिम्मतभाई एम. राठोर (हिम्मत स्टील फाउण्ड्री), श्री राजामोहन तिवारी (गोंदिया), श्री डी. आर. जगम (गोंदिया), श्री जी. डी. मनचन्दा (सेंट्रल बैंक रायपुर के अवकाशप्राप्त चीफ एजेंट), श्री नागरभाई एन बाबरिया (रायपुर), श्री गोवर्धनदास बागड़ी (राजस्थान इलेक्ट्रिक स्टोर्स, रायपुर), बख्तावर बालकृष्ण कंपनी भिलाई के श्री कुलदीपसिंह, इन समस्त बन्धुओं के प्रति अपने हृदय का आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने मन्दिर-निर्माण हेतु धनसंग्रह अभियान में हमें विशेष योगदान दिया है।

हम उन अनेक शासकीय अधिकारियों के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने हमें इस कार्य के लिए अपना पूरा पूरा सहयोग प्रदान किया है, पर जिन्होंने अपना नाम प्रकाशित नहीं करना चाहा है।

अन्त में, हम इस शुभ अवसर पर अपने उन समस्त दानदाताओं, सहयोगियों एवं सहकर्मियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनकी सहायता के बिना यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता।

आशीर्वचन

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(३-२-७६ की मन्दिर प्रतिष्ठापन जनसभा में प्रदत्त)

छह वर्ष पूर्व मुझे इस मन्दिर का शिलान्यास करने का अवसर मिला था। आप कह सकते हैं कि उस समय यह केवल एक कल्पना थी, एक स्वप्न था, किन्तु आज यह एक सम्पन्न वास्तविकता है। कल नवनिर्मित एवं सुसज्जित मन्दिर का समर्पण किया गया तथा श्रीरामकृष्ण के विग्रह की प्रतिष्ठा भी की गयी। और अब वे वहाँ सभी का मंगल करने के लिए, सबके कल्याण के लिए और सबको आनन्द प्रदान करने के लिए, 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' विराजमान हैं।

ये मन्दिर प्रत्येक सभ्यता के सामान्य अभिलक्षण हैं। सम्भवत: इनका अभ्युदय मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के रूप में हुआ है। मनुष्य अनन्त ईश्वर को किसी ठोस आकार में समझना चाहता है तथा वह एक ऐसा स्थान भी चाहता है, जहाँ वह ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव कर सके। हमारे परिवारों के पूजाघरों के तथा मन्दिर, गिरजा और मस्जिद जैसे सार्वजनिक आराधना-स्थलों के मूल में ये ही विचार हैं। इनका उदय मनुष्य की कुछ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं या जरूरतों को पूरा करने के लिए हुआ है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, ''दो प्रकार के मन्दिर होते हैं। पहले प्रकार के मन्दिर शिव, दुर्गा, काली तथा अन्य देवताओं को समर्पित होते हैं तथा दूसरे प्रकार के मन्दिर अवतारों और सन्तों को।" यह मन्दिर अवतारों और सन्तों की दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। शायद कुछ लोगों के मन में श्रीरामकृष्ण को अवतार के रूप में ग्रहण करने में कुछ हिचक हो। ऐसे लोगों से मेरा अनुरोध है कि वे श्रीरामकृष्ण को आधुनिक काल के एक महान् सन्त के रूप में ग्रहण करें। श्रीकृष्ण वहाँ आगे उद्धव से कहते हैं, ''जो लोग किसी

कामना के साथ सन्तों की पूजा करते हैं, उनकी कामना पूरी होगी और जो उनकी पूजा निष्काम भाव से करते हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी।" अतः यह आप सब लोगों के लिए एक ऐसा स्थान है, जहाँ आप आधुनिक काल के इस महान् सन्त श्रीरामकृष्ण की पूजा कर सकते हैं, भले ही आप उन्हें अवतार न मानें। इससे आपकी जो भी इच्छा होगी, उसकी पूर्ति होगी। आपकी समस्त कामनाएँ पूरी होंगी। और यदि आप बिना किसी इच्छा के उन्हें भजेंगे, तो आप निश्चित रूप से मोक्ष के अधिकारी होंगे। अतः यह एक ऐसा स्थल है, जहाँ कोई भी आ सकता है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि कर सकता है। यदि कोई सकाम पूजा करता है, तो वह धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करेगा और यदि वह निष्काम भाव से पूजता है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

किन्तु, श्रीरामकृष्ण केवल सन्त ही नहीं थे। वे कुछ अद्वितीय थे, वे एक अद्वितीय कोटि के सन्त थे। विभिन्न धर्मों के द्वारा अनुमोदित साधनाओं को सम्पन्न कर उन्होंने अपने जीवन में इस तथ्य की अनुभूति की थी कि सभी धर्म अन्ततोगत्वा एक ही सत्य तक ले जाते हैं। उन्होंने अपनी स्वयं की अनुभूति के द्वारा यह जान लिया था कि सभी धर्म सत्य हैं तथा वे एक ही उद्देश्य की प्राप्ति कराते हैं। इसके बल पर उन्होंने 'जतो मत ततो पथ'--'जितने मत उतने पथ' का उद्घोष किया था। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण धार्मिक एकता के प्रतीक हैं। वे मानवजाति की एकता के भी प्रतीक हैं। उनकी अनुभूति थी कि प्रत्येक मनुष्य में--वंश, धर्म, या उसकी राष्ट्रीयता से निरपेक्ष--एक ही आत्मा विद्यमान है। आपात् प्रतीयमान सत्ता के मूल में आत्मा अवस्थित है। वह ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक--उच्च और निम्न में, ज्ञानी और अज्ञानी में, धनी और दरिद्र में--प्रत्येक में विद्यमान है। श्रीराम-

कृष्ण ने यह जान लिया था कि हम जो भी पार्थक्य देखते हैं—चमड़ी के रंग का अन्तर, जातियों का अन्तर, स्तर का अन्तर—ये सब अन्तर हमारे अज्ञान के द्वारा बने हैं, किन्तु मूलतः मानवता एक है। उन्होंनें हिन्दी के इस पद की सत्यता अनुभव कर ली थी—'जो राम दशरथ का बेटा, वही राम घट-घट में लेटा'—जो राम दशरथ का पुत्र है, वही राम सभी के अन्तर्तम में विद्यमान है। इस प्रकार, श्रीरामकृष्ण ने मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं किया और इसीलिए मैं यह कहता हूँ कि यह मन्दिर प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूजा करने हेतु खुला है, भले ही वह किसी भी जाति, वंश या राष्ट्रीयता का क्यों न हो। यह मन्दिर अन्य धर्मावलम्बी लोगों के लिए भी खुला है, क्योंकि वे यह महसूस करेंगे कि श्रीरामकृष्ण उनके भी बिलकुल अपने हैं, क्योंकि उन्होंनें इन धर्मों में से प्रत्येक कें द्वारा चरमसत्य की अनुभूति की थी। अतः मैं यह कहूँगा कि यह मन्दिर एक सार्वभौमिक मन्दिर है, जहाँ लोग एक मानव-समुदाय के रूप में सूत्रबद्ध हो सकते हैं। आज जब हम संकटापन्न घड़ियों से गुजर रहे हैं, तो एकता का यह आदर्श विशेषकर हमारे देश के लिए अत्यावश्यक है। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "भारत श्रीरामकृष्ण का है तथा श्रीरामकृष्ण भारत हैं।" अतः आप सब श्रीरामकृष्ण की पताका के नीचे संगठित हो सकेंगे।

मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे आप सबको इन महान् आदर्शों की उपलब्धि हेतु सामर्थ्य प्रदान करें, ताकि धर्म की एकता और मानवजाति की एकता के ये द्विविध आदर्श समूचे देश में, और विशेषकर मध्यप्रदेश में, आपके अपनें कल्याण के लिए तथा सभी के हित के लिए परिव्याप्त हो जाएँ—'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'।

ॐ शान्तिः शान्तिः शन्तिः।

सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण

स्वामी व्योमरूपानन्द

परमपूज्य महाराज जी, आदरणीय स्वामी रंगनाथानन्द जी, स्वामी आत्मानन्द जी, भाइयो और बहिनो!

आज के इस शुभ अवसर पर यहाँ उपस्थित होने का यह जो अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए मुझे सचमुच बड़ा आनन्द हो रहा है। जैसा आपने अभी सुना है, मैं आपके सम्मुख 'सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' इस विषय पर कुछ विचार रखूँगा। हमारी यह जन्मभूमि अवतारों, ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और साधु-सन्तों की भूमि है। इस भूमि में भगवान् श्रीरामकृष्ण ने अवतरित होकर उसे धन्य और पवित्र किया है। जब हम भगवान् श्रीरामकृष्ण के विभूतिमत्व की ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि वे पूर्ण रूप से ईश्वर में ही वास किया करते थे। उनका जीवन पूर्णतः ईश्वर-केन्द्रित था। उपनिषदों में आत्मक्रीड, आत्मरति और आत्माराम जैसे शब्दों से जिसका वर्णन किया गया है, श्रीरामकृष्ण उसी कोटि के अत्यन्त उच्च अवतारी महापुरुष थे। उनके लिए समाधि-अवस्था बहुत ही स्वाभाविक बन गयी थी। जिस प्रकार हम श्वास-प्रश्वास लेते हैं, उसी प्रकार उनका मन अत्यन्त सहज रूप से समाधि में लीन हो जाता था। कहा गया है कि — 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः'—जहाँ कहीं मन जाता है, वहीं समाधि में लीन हो जाता है। श्रीरामकृष्ण ज्ञान की इसी सर्वोच्च अवस्था में सर्वदा वास किया करते थे। उनके उपदेशों का स्वरूप सार्वजनिक है और इसीलिए सभी धर्मों के अनुयायियों को वे अपने बहुत निकट के लगते हैं। डा० सिल्वन लेवी नाम के फ्रेंच लेखक ने उनके बारे में कहा है कि 'यद्यपि श्रीरामकृष्ण का जन्म भारत में हुआ था, तथापि वे पूरे संसार के हैं'—"Though Sri Ramakrishna was born in India, he belongs to the whole world and his mind and heart

---

३-२-७६ की मन्दिर प्रतिष्ठापन जनसभा में प्रदत्त भाषण

belong to all men of all countries." रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी भगवान् श्रीरामकृष्ण के जीवन का अत्यन्त सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। वे कहते हैं कि विभिन्न देशों के साधकों ने विभिन्न काल में भिन्न भिन्न प्रकार की जो साधनाएँ की थीं और उन्हें उन साधनाओं के जो फल प्राप्त हुए थे, वे सभी भगवान् श्रीरामकृष्ण के जीवन में हमें एकत्रित रूप में दिखायी देते हैं और इसीलिए उनका जीवन अनन्त के मार्ग पर एक तीर्थक्षेत्र के समान हो गया है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण ने हमें धर्म और आध्यात्मिक जीवन का सच्चा अर्थ बतलाया है। जिस मूल उद्‌गम स्थान से सभी धर्मों की उत्पत्ति होती है, वहाँ वे पहुँच चुके थे और इसीलिए धर्म और आध्यात्मिक जीवन के बारे में उनके उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे कहा करते थे कि धर्म का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर-लाभ या आत्मज्ञान है। मुण्डकोपनिषद् में अंगिरस ऋषि जो कहते हैं—"तमेवैतं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः" इसका भी वही अर्थ है। हमें उसी एकमेवाद्वितीय आत्मा की, भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए। इस भगवदानुभूति से, इस ईश्वर-लाभ से ही हमें अमरत्व की प्राप्ति होगी। जब मनुष्य यह अन्तिम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है, तब वह पूर्णत्व में पहुँच जाता है, उसका ज्ञान दिव्य हो जाता है। इसी को हिन्दू धर्म में मोक्ष कहा गया है और बौद्ध धर्म में निर्वाण, तथा ईसाई धर्म में perfection (पूर्णता)। ईसा मसीह ने Sermon on the Mount में उपदेश देते हुए कहा था—— Be thou perfect even as thy Father in Heaven is perfect (जैसे तुम्हारा वह स्वर्ग का पिता पूर्ण है, वैसे ही तुम भी पूर्ण हो जाओ)।

भगवान् श्रीरामकृष्ण सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य हैं। उन्होंने केवल हिन्दू धर्म के अनुसार ही साधना नहीं की, बल्कि संसार के अन्य धर्मों---ईसाई और इस्लाम धर्मों — के अनुसार भी उन्होंने

साधना की थी और इन सभी धर्मों के अन्तिम लक्ष्य को उन्होंने प्राप्त कर लिया था। अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर उन्होंने यह घोषणा की थी कि संसार के सभी धर्म सत्य हैं और वे अन्त में हमें एक ही ईश्वर तक पहुँचाते हैं। उनकी यह घोषणा मात्र बौद्धिक या तात्त्विक स्वरूप की नहीं है, प्रत्युत उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होने के कारण उसका विशेष महत्त्व है। बुद्धि की सहायता से भिन्न भिन्न धर्मों के अच्छे तत्त्वों का संकलन किया जा सकता है, परन्तु श्रीरामकृष्ण देव का सर्व-धर्म-समन्वय इस प्रकार का बौद्धिक संकलन नहीं है। उनका पूरा जीवन ही एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में अनेक प्रकार के प्रयोग करता है, उनसे कुछ निष्कर्ष निकालता है तथा उन्हें हमारे सामने रखता है, जिन्हें हम भी जाँच सकते हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामकृष्ण ने ऐसी ही वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर विभिन्न धर्मों की साधना की है। जिन्होंने उनकी जीवनी पढ़ी है, उन्हें मालूम होगा कि किस प्रकार उन्होंने सर्वप्रथम अपनी हार्दिक व्याकुलता और अनन्य भक्ति की सहायता से काली माता के दर्शन प्राप्त किये थे। इसके बाद उन्होंने तंत्रशास्त्र की अनेक प्रकार की अत्यन्त कठिन साधनाओं को अपनाया और उनका फल भी प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने भक्तिशास्त्र के भिन्न भिन्न भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—के अनुसार साधना कर उनके भी फल प्राप्त किये। तदुपरान्त उन्होंने अद्वैत वेदान्त की भी साधना की और उनका मन निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू धर्म के विभिन्न मतों के अनुसार साधनाएँ कीं और उन सबके फलों को प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने आगे चलकर इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुसार भी साधनाएँ कीं और इन धर्मों के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में विभिन्न

धर्मों की साधनाएँ कीं और अपनी इस प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर ही उन्होंने हमें यह सन्देश दिया कि सभी धर्म सत्य हैं और वे अन्त में हमें एक ही ईश्वर तक पहुँचाते हैं। ईश्वर एक ही है, केवल उसके नाम भिन्न भिन्न हैं। ऋग्वेद में कहा गया है--'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'--सत्य तो एक ही है, पर ज्ञानीजन उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए वे एक उदाहरण देते थे। एक तीन घाटों वाला तालाब है। एक घाट में हिन्दू बैठा है, वह 'जल' कहता है। दूसरे घाट में मुसलमान बैठा है, वह 'पानी' कहता है। और तीसरे घाट में ईसाई बैठा है, वह 'वाटर' कहता है। वस्तु तो एक ही है, पानी तो एक ही है, परन्तु भिन्न भिन्न भाषाओं में उसके अलग अलग नाम हैं। इसी प्रकार ईश्वर तो एक ही है, पर भिन्न भिन्न धर्मों में उसे अलग अलग नाम दिये गये हैं। हिन्दू धर्म में उसे ब्रह्म, इस्लाम धर्म में अल्लाह और ईसाई धर्म में 'फादर इन हैवन' कहा जाता है। जिस प्रकार हम छत पर चढ़ने के लिए जीना या सीढ़ी या रस्सी का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न धर्म ईश्वर तक पहुँचने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के उपाय हैं।

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि ईश्वर-लाभ करने के लिए हमें धर्म बदलने की आवश्यकता नहीं है। हम अपने अपने धर्म में रहकर सच्चे हृदय से साधना करते हुए उसके अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर ले सकते हैं, और इस प्रकार हम आदर्श हिन्दू या आदर्श मुसलमान अथवा आदर्श ईसाई बन सकते हैं। वे कहते थे कि जब मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है और जब वह उच्च आध्यात्मिक भूमि पर आरूढ़ होता है, तब धर्म या मत के कारण उत्पन्न भेद, संघर्ष और लड़ाई-झगड़े आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम आध्यात्मिक जीवन में अधिकाधिक उन्नति करें। तब बन्धुत्व, प्रेम, भ्रातृत्व और सहिष्णुता के भाव आप ही आप हमारे हृदय में उत्पन्न

हो जाएँगे। वे कहते थे कि लोहे की तलवार का स्पर्श जब पारस से होता है, तब वह सोने की बन जाती है। फिर उस तलवार से किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब मनुष्य यथार्थ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है, तब उसके जीवन में पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाता है और उसके द्वारा फिर किसी प्रकार की हिंसा या हत्या नहीं हो सकती; उसके हृदय में किसी के लिए द्वेष, घृणा या ईर्ष्या के विकार नहीं रह सकते। गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि जिस मनुष्य को आत्मज्ञान होता है, उसके जीवन में फिर किसी भी प्रकार का विवाद या विरोध नहीं रहता और उसके द्वारा सभी का कल्याण ही होता है। श्रीरामकृष्ण देव हमें यह उपदेश देते हैं कि संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के धर्म रहेंगे ही, क्योंकि भगवान् ने ही देश, काल, परिस्थिति के अनुसार इन धर्मों की उत्पत्ति की है, अतः हमें आपस में लड़ना-झगड़ना छोड़कर अपने धर्म के द्वारा बताये रास्ते पर निष्ठापूर्वक लग जाना चाहिए और धर्म के अन्तिम लक्ष्य को पा लेना चाहिए। तभी संसार में सच्चे बन्धुत्व और सहिष्णुता की स्थापना हो सकेगी।

यहाँ पर मुझे विश्वविख्यात इतिहास लेखक डा० टायन्बी के शब्दों का स्मरण हो आता है। उन्होंने रामकृष्ण संघ के लन्दन स्थित केन्द्र में व्याख्यान देते हुए श्रीरामकृष्ण के सन्देश की विशेषता और महत्ता पर प्रकाश डाला था। उनके कथन का सार यह था—"The harmony of religions, preached by Sri Ramakrishna, is a unique gift to the world and it would be conducive to the establishment of a new world-culture based on tolerance and universal brotherhood"—"श्रीरामकृष्ण देव द्वारा प्रचारित सर्व-धर्म-समन्वय संसार को एक अमूल्य देन है और इसकी सहायता से एक नयी विश्व-संस्कृति का निर्माण होगा, जिसका

आधार होगा सहिष्णुता और विश्व-बन्धुत्व । भारतीय संस्कृति की मुख्य शिक्षा है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'--यह पूरा विश्व एक कुटुम्ब बनना चाहिए । इस शिक्षा को सफल बनाने के लिए ही सर्व-धर्म-समन्वय का उपदेश दिया गया है ।

पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि आज संसार को एक विश्व-संस्कृति की आवश्यकता है । आज का वातावरण पारस्परिक द्वेष और भ्रांति से परिव्याप्त है । पूरा संसार ज्वालामुखी के मुख पर बैठा हुआ है और हम नहीं कह सकते कि इस ज्वालामुखी का कब विस्फोट होगा । आज हमारे सामने दो प्रश्न हैं-- "Whether we want co-existence or co-destruction ?" -- हमें सह-अस्तित्व चाहिए या सह-विनाश ? यदि हम सह-अस्तित्व चाहते हैं, तो भगवान् श्रीरामकृष्ण के समन्वय और सामंजस्य के उपदेशों को हमें हृदयंगम और आत्मसात् करना चाहिए । संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह लिखा हुआ है --"War first takes place in the mind of man, then it appears in the external world. Therefore the mind of man should be changed first." --'संसार के युद्धों की उत्पत्ति पहले मन में होती है और फिर वे बाह्य जगत् में प्रकट होते हैं। इसलिए पहले मनुष्य का मन बदलना चाहिए।' मनुष्य का मन कब बदलेगा ? तब, जब वह धर्म का अनुसरण करेगा । जिसके मन में शान्ति है, वही संसार में अन्य लोगों के साथ शान्ति से रह सकता है। इस सन्दर्भ में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के सर्व-धर्म-समन्वय के सन्देश की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। आज के इस पुण्य अवसर पर भगवान् श्रीरामकृष्ण के चरणों में मेरी यही नम्र प्रार्थना है कि उनकी कृपा सभी को प्राप्त हो और सभी का जीवन सफल, धन्य और कृतार्थ बने ।

*

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की विशिष्टता

स्वामी रंगनाथानन्द

(३ फरवरी को मन्दिर प्रतिष्ठापन जनसभा की अध्यक्षता करते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में पहले स्वामीजी हिन्दी में थोड़ा बोले और फिर उन्होंने अपना प्रमुख भाषण अँगरेजी में प्रदान किया। उस हिन्दी भाषण को कुछ संशोधित रूप में तथा अँगरेजी को अविकल रूप से हिन्दी में अनुवादित कर नीचे दिया जा रहा है।--सं०)

पूज्य अध्यक्ष महाराज, बहनो और भाइयो !

जैसा अभी स्वामी आत्मानन्द ने बताया है कि वे मेरा अँगरेजी का भाषण हिन्दी में अनुवाद करके सुनाएँगे, तो मैं सोचता हूँ कि अँगरेजी में बोलने के पहले दो शब्द हिन्दी में बोल लूँ।

कल श्रीरामकृष्ण मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। इस सम्बन्ध में मैं आपको अपना एक अनुभव सुनाऊँ। अभी अभी आपने सुना कि श्रीरामकृष्ण सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य थे तथा उनके उपदेशों से हमारे देश में और सारी दुनिया में शान्ति स्थापित की जा सकती है। पटना में दो-तीन साल पहले जब श्रीरामकृष्ण जयन्ती आयोजित हुई थी, तब केन्द्रीय रक्षामंत्री श्री जगजीवनराम भी आये थे। वहाँ के आयोजन के सचिव ने जनसमुदाय को रक्षामंत्री का परिचय देते हुए कहा कि ये हमारे देश के रक्षामंत्री अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति हैं और वे आज यहाँ श्रीरामकृष्ण के बारे में कुछ कहने के लिए आये हैं। जब जगजीवनराम जी खड़े हुए और उन्होंने अपना भाषण शुरू किया, तब उन्होंने कहा कि मैं यहाँ भारत के रक्षामंत्री की हैसियत से नहीं आया हूँ, मैं तो यहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंसजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने आया हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि सारी दुनिया श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों को अपना ले, तो किसी भी देश में रक्षामंत्री के काम की जरूरत ही नहीं होगी। यह सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह रामकृष्ण देव की सही

समझ है, जिससे केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकती है, सौहार्द और सेवाभाव स्थापित हो सकता है।

ये दो-चार शब्द हिन्दी में कहकर अब मैं अपना मुख्य भाषण अँगरेजी में प्रदान करूँगा, जिसे बाद में आत्मानन्द हिन्दी में अनुवाद करके सुनाएँगे।

नमस्कार !

० ० ०

मित्रो !

यह आश्रम के लिए, पूरे रायपुर नगर के लिए, यही क्यों, समूचे मध्यप्रदेश के लिए एक महान् अवसर उपस्थित हुआ है, जब आश्रम के प्रांगण में श्रीरामकृष्ण मन्दिर की प्रतिष्ठा की गयी है। इस सन्ध्या हमें अध्यक्ष महाराज से, थोड़े से नपे-तुले शब्दों में आशीर्वचन प्राप्त हुआ। उन्होंने हमारे समक्ष उन महान् आदर्शों को रखा, जिन्हें हमारे अपने युग में श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में जिया था। उनकी स्मृति में समर्पित यह मन्दिर इस नगर और इस प्रदेश के लोगों के कल्याण के लिए निर्मित हुआ है। स्वामी व्योमरूपानन्द जी ने अभी अभी सर्व-धर्म-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण इस विषय पर भाषण दिया है। मैं रायपुर में कुछेक बार आ चुका हूँ और मैं पहली बार सम्भवतः सन् १९५७ में आया था। मैं रायपुर निवासियों की हमारी अपनी संस्कृति, अपने आध्यात्मिक आदर्श और श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश के प्रति गहरी रुझान को देखता आ रहा हूँ। मैं समीप के भिलाई, दुर्ग एवं बिलासपुर आदि नगरों को भी गया हूँ और इन महान् आदर्शों के प्रति इस क्षेत्र के लोगों की गहरी रुचि को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। इस सबका

सारा श्रेय स्वामी आत्मानन्द को है, जो इस क्षेत्र की जनता की कई वर्षों से सेवा करते चले आ रहे हैं, और उन्होंने महती निष्ठा-पूर्वक लोगों की सेवा की है। आज, जब हम इस महान् उत्सव का आयोजन कर रहे हैं, हम इस नगर एवं आसपास के क्षेत्रों में स्वामी आत्मानन्द द्वारा किये गये विलक्षण सेवा-कार्यों का स्मरण करना चाहेंगे।

अपने सभी आश्रमों में हम लोग श्रीरामकृष्ण का जन्मदिवस मनाते हैं। पर आज यहाँ वह हम नहीं मना रहे हैं, आज तो हम मन्दिर का प्रतिष्ठापन उत्सव मना रहे हैं, जिसमें कल से श्रीराम-कृष्ण देव प्रतिष्ठित हो चुके हैं। अध्यक्ष महाराज ने उद्धव से कहे गये श्रीकृष्ण के वचनों को उद्धृत करते हुए कहा कि ईश्वर को दो रूपों में पूजा जाता है—एक, पौराणिक देवी-देवताओं के रूप में और दूसरा, सन्तों एवं अवतारों के रूप में। श्रीरामकृष्ण हम लोगों की तरह ही एक मनुष्य थे, पर वे धधकते दैवत्व के विग्रह थे। अतः उनकी पूजा करना साक्षात् ईश्वर की ही पूजा करना है। हमारे महान् सनातन धर्म की यही शिक्षा है। रायपुर में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर की स्थापना का एक विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस नगर का सम्बन्ध नरेन्द्र से रह चुका है, जिन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन के दो वर्ष यहाँ बिताये थे। आपको विदित ही है कि श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को सबसे अधिक चाहते थे और कहा करते थे, ''नरेन्द्र मुझे जहाँ रखेगा, मैं वहीं रहूँगा।'' अतः नरेन्द्र का रायपुर से सम्पर्क यहाँ पर श्रीरामकृष्ण की विद्यमानता को अन्य किसी भी स्थान की तुलना में अधिक प्रभावी बनाएगा। (जोरों की तालियाँ) रायपुर के निवासियों को अपने नगर की इस पृष्ठभूमि का अवश्य स्मरण करना चाहिए। जब नरेन्द्र यहाँ आये थे, तब वे एक अपरिचित विद्यार्थी थे, और आज वे श्रीरामकृष्ण के पार्षद विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द हैं। विश्व आज उनका स्मरण

आधुनिक भारत के शिल्पी के रूप में करता है। इस प्रकार इस नगर का नरेन्द्र के साथ और उनके माध्यम से श्रीरामकृष्ण के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। यहाँ पर मैं एक बात पर विशेष बल देना चाहूँगा और वह यह कि रायपुर का यह आश्रम समूचे मध्य-प्रदेश में रामकृष्ण मिशन की प्रथम अधिकृत संस्था है। और यह स्वामी आत्मानन्द, उनके ब्रह्मचारियों तथा अन्य सहयोगियों एवं सहृदय जनसाधारण की एकनिष्ठ सेवाओं के फलस्वरूप ही सम्भव हो सका है। इन विगत कतिपय वर्षों में स्वामी आत्मानन्द ने इस क्षेत्र में जो आश्चर्यजनक कार्य किया है, वह कई दशाब्दियों तक स्मरण किया जाता रहेगा।

श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में एक अपूर्वता है। भारत में मन्दिरों का अभाव नहीं है। इस देश में बहुत से मन्दिर हैं, और आज भी बन रहे हैं। पर श्रीरामकृष्ण के नाम पर निर्मित मन्दिर की अपनी एक अपूर्व महत्ता है। मैं वह आपके समक्ष व्यक्त करना चाहूँगा। उदाहरण के लिए रायपुर का यह मन्दिर ही लीजिए। इसके निर्माण के पीछे इस क्षेत्र की जनता की बरसों से की जानेवाली सेवाओं का इतिहास छिपा है---और यह सेवा केवल आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक क्षेत्र की ही नहीं, बल्कि भौतिक क्षेत्र की भी रही है। अभी आपने स्वामी आत्मानन्द को प्रतिवेदन में यह बताते हुए सुना कि जब प्रदेश पर अकाल की विभीषिका छा गयी, तो उन्होंने राहत कार्यों के निमित्त मन्दिर का काम बन्द कर दिया। भुखमरी के शिकार हजार-हजार लोगों के भोजन और काम की व्यवस्था उन्होंने की; तथा और भी कितने विभिन्न प्रकार के सेवा-कार्यों का उन्होंने प्रवर्तन किया है। जब पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियों के जत्थे पर जत्थे भारत आने लगे, उस समय इस आश्रम को केन्द्र बनाकर अत्यन्त सराहनीय सेवाकार्य किये गये। अतः रामकृष्ण संघ की संस्था और रामकृष्ण मन्दिर का हमारे

देशवासियों के प्रति आज एक अभिनव सन्देश है और वह यह कि यह संस्था और यह मन्दिर लोगों को मानवता से प्यार करने को, उसकी सेवा करने की प्रेरणा देने के लिए निर्मित हुआ है। जीव में शिव को देखना यह श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द की एक महान् शिक्षा रही है। यही सनातन धर्म का भी केन्द्रीय उपदेश है। श्रीरामकृष्ण इसे सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हैं, "प्रत्येक जीव शिव है। जीव की सेवा ही शिव की उपासना है।" यह एक असाधारण शिक्षा है। यद्यपि यह सीख हमारे धर्मग्रन्थों में, उपनिषदों और गीता में, भागवत और अन्य पुराणों में अत्यन्त प्राचीन काल से रही है, तथापि हमने अपने देश में दीर्घकाल से उस पर अमल नहीं किया है। हमने अब तक उस सीख का व्यवहार नहीं किया। हमने मन्दिर तो बनाये, पर उन मन्दिरों का शेष संसार से, हम लोगों के जीवन से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सका। अतीत में हमने यह बड़ी भूल की। पर अब इस भूल को हम सुधारेंगे। हम मन्दिर में जाएँगे, वहाँ श्रीमूर्ति की पूजा करेंगे--क्योंकि वह परमात्मा का जीवन्त विग्रह है, वह भक्तिशास्त्र की भाषा में अर्चावतार है और अर्चा का तात्पर्य होता है मूर्ति—पर अब उस ईश्वर की उपेक्षा नहीं करेंगे, जो जीवित मनुष्य के रूप में अवतीर्ण हुआ है। जो मन्दिर में अर्चा के रूप में विराजित है, वही हमारे हृदय में अन्तर्यामी के रूप से विराजमान है। अतः जब हम मूर्ति के दर्शन और उसकी पूजा करते हैं, तो हमारी उस पूजा को वहीं नहीं रुक जाना चाहिए, बल्कि हमें मन्दिर से बाहर निकलकर उस विराट् की पूजा करनी चाहिए, जो सब प्राणियों के भीतर रमा है। तभी हमारी पूजा पूर्ण होगी। पर दुर्भाग्य से अब तक हमने मन्दिरोपासना का समूचा मर्म अपने जीवन से अछूता ही रखा। हम समझते रहे कि हम कैसा भी जीवन बिता सकते हैं--हम स्वार्थी हो सकते हैं,

झगड़ालू बन सकते हैं, अनाचार कर सकते हैं---पर यदि हम मन्दिर में चले जायँ, तो सब कुछ ठीक हो जायगा। श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के साथ, युगों के अन्तराल के बाद हमें मन्दिरोपासना का मर्म पहली बार सिखाया गया। हमें बतलाया गया कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर को देखने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए ही मन्दिरोपासना की जाती है। हमें इस मन्दिर से यही प्रेरणा ग्रहण करनी होगी। हमारे महान् अध्यात्म साहित्य में स्थान-स्थान पर इसी बात को समझाया गया है। इस सत्य को प्रदर्शित करने के लिए ही इस मन्दिर-निर्माण के पीछे आप इस आश्रम द्वारा किये गये व्यापक सेवा कार्यों का विस्तार देख पाएँगे। और यही बात आप भारत के विभिन्न भागों में स्थित हमारे अन्य आश्रमों में भी देखेंगे। अस्पताल और विद्यालय, विपदाग्रस्त लोगों की सेवा हेतु केन्द्र, अकाल या बाढ़-पीड़ितों हेतु सेवा-कार्य ---ये सब रामकृष्ण संघ की संस्थाओं में मन्दिरोपासना के अभिन्न अंग हैं। जीवों की सेवा और भगवान् की उपासना ये दोनों अलग अलग नहीं बल्कि अभिन्न हैं। ध्यान में आँखें बन्द कर जैसे ईश्वर को देखना, वैसे ही दैनिक जीवन में आँखें खोलकर भी उसी ईश्वर को देखना। मन्दिर में जाओ, ईश्वर की उपासना करो, और वहाँ से बाहर आकर वह सब सेवा के रूप में ढाल दो, जिसे तुमनें भीतर जाकर प्राप्त किया था। इस प्राचीन सबक को हम एकबारगी भूल चुके थे। आज इस सबक को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। हम मन्दिर अवश्य चाहते हैं, पर ऐसे मन्दिर जो हमें शक्ति दे सकें, हमारा आध्यात्मिक विकास साधित कर सकें और हमारे भीतर निहित दिव्यता को प्रकट कर सकें। यही वस्तुत: इन मन्दिरों का तात्पर्य है और हम समस्त मन्दिरों, गिरजाघरों एवं मस्जिदों को इसी तात्पर्य की पूर्ति की ओर मोड़ने का प्रयास करेंगे। वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण का आगमन इसी

उद्देश्य की पूर्ति हेतु हुआ है।

अभी आपने पूर्व वक्ताओं से उन साधनाओं के बारे में सुना, जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू सम्प्रदायों, यहाँ तक कि हिन्दू धर्म के अवरोधों को लाँघकर, विभिन्न धर्मों के बीच एक प्रकार का एकत्व स्थापित करने के लिए किया था। एक मानवी जीवन में सबसे बड़ी देन जो हो सकती है, वह श्रीरामकृष्ण ने दी। यह देन अवश्य ही हमारी संस्कृति और हमारे दर्शन में विद्यमान है, पर यह पहला ही अवसर था, जब संसार ने श्रीरामकृष्ण में ऐसे व्यक्ति के दर्शन किये, जो एक ही जीवन में आदर्श के सारे सरगमों को जी गया। श्रीरामकृष्ण के सन्देश में ये दो महान् उपदेश चमकते हैं--एक, मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को गहरा करना और दूसरा, विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करना। जब स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में 'मेरे गुरुदेव' इस प्रख्यात विषय पर व्याख्यान दिया था, तब अन्त में उन्होंने श्रीरामकृष्ण के इन दो महान् उपदेशों की ओर संकेत करते हुए कहा था, "अपने भीतर अवस्थित आत्मा का साक्षात्कार करो और अन्य पथों के प्रति आदरभाव रखो।" एक ओर गहरी आध्यात्मिकता रहे और दूसरी ओर सबके लिए गहरी सहानुभूति रहे। इन दोनों को साथ साथ चलना चाहिए। केवल इसी प्रकार धर्म मानव-जीवन में सर्जनात्मक और गतिशील तत्त्व बन सकता है। हमें आज इन दोनों उपदेशों की आवश्यकता है। जहाँ तक विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय का प्रश्न है, स्वामी व्योमरूपानन्द ने पहले ही इस पर चर्चा की है। मैं बल देकर केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस भारतभूमि में अत्यन्त प्राचीन काल से यही हमारे गुणों का सर्वाधिक वैशिष्ट्य रहा है--प्रत्येक धर्म का सम्मान करो और विभिन्न धर्मों में समन्वय की साधना करो। वैदिक काल के महान् आचार्यों से लेकर श्रीरामकृष्ण तक सभी ने

हमें यही पाठ पढ़ाया है। बड़े बड़े सन्तों और भक्तों ने इसे अपने जीवन में उतारकर प्रदर्शित किया है और हमारे राजनैतिक राज्यों ने दुनिया के धर्मों के बीच सहिष्णुता का, समन्वय का अभ्यास किया है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने इसे धर्म के अंग के रूप में स्वीकार किया, और हम उनके विशाल साम्राज्य में, जो उत्तर में अफगानिस्तान तक और दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था, पहाड़ की चट्टानों और स्तम्भों पर ऐसे शिलालेख पाते हैं, जिन पर खुदा हुआ है-- 'समवाय एवं साधुः'-- संसार के धर्मों के परिप्रेक्ष्य में समवाय ही सही है। 'समवाय' का तात्पर्य होता है समन्वय, एकमत। तो, जहाँ तक भारतवासियों का सम्बन्ध है, यह उनके लिए धर्म का ही एक अंग है। स्वामी व्योमरूपानन्द ने अपने भाषण में विश्व के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ टॉयन्बी, जिनका देहावसान कुछ ही दिनों पूर्व हुआ, का हवाला देते हुए कहा कि हिन्दू धर्म की यही विशेषता रही है कि उसने विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय के इस महान् आदर्श का उद्घोष किया है। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि तुम गिरजा में जाते हो या मन्दिर में, अथवा कि मस्जिद में ? वही एक ईश्वर सर्वत्र पूजित हो रहा है। सभी धर्मों में निहित इस एकत्व को देखने की सामर्थ्य हिन्दू के रक्त में भिदी हुई है। अब हमें यह सामर्थ्य ईसाई को, मुसलमान को देनी होगी, क्योंकि उनके पास वह नहीं थी। वे संकीर्ण थे, तंग दायरे में सिमटे थे। पर आज वे भी धीरे धीरे इस सत्य को समझने में समर्थ हो रहे हैं। आज हम देखते हैं कि कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट दोनों एक दूसरे के कुछ समीप आ पा रहे हैं। ऐसा क्यों ? हिन्दू प्रभाव के कारण, वेदान्त के प्रभाव के कारण, जो कहता है कि विभिन्न धर्मों का सारतत्त्व आखिर एक ही है। अतः एक दूसरे से घृणा क्यों करते हो ? समीप आओ और झगड़ने के बदले एक दूसरे से

सौहार्दपूर्ण वार्ता की पृष्ठभूमि बनाओ, एक दूसरे को समझने की कोशिश करो। विश्व के अन्य धर्मों पर यही वेदान्त का प्रभाव है। हम भारतवासियों को अपनी विशेष विरासत के रूप में प्राप्त इस समन्वय के आदर्श और उसके अभ्यास को अक्षुण्ण बनाकर रखना चाहिए। हम अपने देश में विभिन्न मतों और धर्मों के साठ करोड़ अनुयायियों को भाई-चारे के साथ शान्ति-पूर्वक रहते देखते हैं। यह कैसे सम्भव हुआ ? हमें सन्तों ने यह पाठ पढ़ाया, अतीत के महान् राजनीतिक नेताओं ने भी हमें यह पाठ पढ़ाया। हम इस पाठ की आवृत्ति करेंगे। इस महान् सन्देश को फिर से सुनाने के लिए श्रीरामकृष्ण आये, गरिमामण्डित जीवन जिया और अपने जीवन को ही उन्होंने धर्मों का एक महान् मिलनस्थल बना लिया।

भागवत में एक सुन्दर श्लोक आता है। वैसे तो ऋग्वेद, गीता एवं अन्य शास्त्रों में ऐसे सुन्दर श्लोक भरे पड़े हैं, पर भागवत के इस श्लोक का सौन्दर्य कुछ विशिष्ट है। उस श्लोक में कहा गया है--

वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति कथ्यते ॥

--उसी एक अद्वय, ज्ञानमय तत्त्व को ज्ञानी ब्रह्म कहकर पुकारता है, योगी परमात्मा कहकर और भक्त भगवान् कहकर।

यदि हम अपने इस महान् देश को समन्वय का, यथार्थ समझ और सहयोग का केन्द्र बनाना चाहते हैं, तो यह उपदेश कि विभिन्न जन अलग अलग रास्तों से उसी एक ईश्वर के पास जाते हैं, आज फिर से हमारे रक्त में घुल-मिलकर हमारी शक्ति का आधार बने। आयलैंड को देखो, वहाँ कैथोलिकों और प्रोटेस्टैण्टों में किस कदर झगड़ा मचा हुआ है, और दोनों एक ही धर्म के अनुयायी हैं ! और अभी हाल में हमने लेबनान में एक ही धर्म के दो

सम्प्रदायों को आपस में लड़ते पाया है। हम भी भारत में इस पीड़ा के शिकार हुए--हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा होता रहा। बाहर की शक्तियाँ हमें विभाजित करने का प्रयास करती रहीं। पर अब हम समझ पा रहे हैं कि हमें अपने प्रति सच्चा बनना होगा और इसके लिए हमें अपने शास्त्रों के उपदेशों तथा श्रीरामकृष्ण के उदाहरण एवं सन्देश को अपने जीवन में आत्मसात् करना होगा। यह पहला सन्देश था--यह समन्वय का सन्देश, जो श्रीरामकृष्ण ने हमें दिया।

उनका दूसरा महान् सन्देश सच्चे धर्म से सम्बन्ध रखता है। हमने समझा था कि मन्दिर या गिरजा या अन्य धार्मिक स्थानों में जाना तथा पवित्र नदियों में स्नान करना आदि ही धर्म है। पर उन्होंने बताया कि वह धर्म नहीं है, वह मात्र एक शुभ कार्य है। धर्म का मतलब होता है आध्यात्मिक विकास। धर्म वह है, जिससे तुम्हारा आध्यात्मिक विकास हो सके। क्या तुम्हारा आध्यात्मिक विकास हो रहा है ? बिना इस विकास के, ऐसा शुभ कार्य तुम्हारा कुछ भी भला नहीं कर सकता। हमारा इतिहास दर्शाता है कि हमने कितने पुण्य कार्य किये थे, कितने मन्दिर बनवाये थे, कितनी पूजा-उपासना की थी, फिर भी हम शताब्दियों तक लड़ते रहे। गरीबी आयी, बाहर से आक्रमण हुए, हम एक दूसरे को सतत दबाते रहे, और हमारा देश पीढ़ी दर पीढ़ी पतन के गर्त में गिरता रहा। यदि हमारे पास सच्चा धर्म होता, तो यह सब हमारे साथ घटना सम्भव नहीं था। अतएव सच्चे धर्म की साधना करो। सच्चा धर्म क्या है ? उसका सन्देश है--आध्यात्मिक बनो। केवल पुण्यकर्मी बनने से नहीं चलेगा। पुण्य कर्म करना तो सहज है, वह तो बाहर की बात है। हम चाहते हैं आध्यात्मिक विकास। सूरदास, मीराबाई, गुरुनानक, तुलसीदास इन सभी ने हमें आध्यात्मिक बनने की सीख दी है। आध्यात्मिक

विकास ही मनुष्य का सच्चा विकास है। मन्दिर में जाओ; पाँच मिनट वहाँ बैठो, और जब तुम वहाँ से निकलो, तो तुम्हें अनुभव होना चाहिए कि तुम ईश्वर के, उस अनन्त सत्ता के एक कदम नजदीक पहुँच गये हो। इसे आध्यात्मिक विकास कहते हैं। धर्म का प्रत्येक क्रियाकलाप, प्रत्येक शुभ या पुण्य कर्म हमें आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख करे। वही धर्म की खरी कसौटी है। यदि यह विकास न होता हो, तो इतना सब करना और आना-जाना एकदम थोथा हो जाता है। हिन्दू धर्म क्या सिखाता है? गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं — 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'— 'हे अर्जुन! मैं सब जीवों के हृदय में विद्यमान आत्मा हूँ।' यदि ईश्वर सबके हृदय में विद्यमान हो, तो क्या हमें उसे दूसरों के भीतर देखने की कोशिश नहीं करनी चाहिए? हिन्दू धर्म इस चुनौती को स्वीकार करता है कि मैं अपने भीतर अवस्थित इस ईश्वर का अनुभव कर लूँ और उसी को सबके हृदय में भी बैठा हुआ देख लूँ तथा इस प्रकार मैं सबको प्यार करूँ, सबकी सेवा करूँ, दूसरों से लड़ूँ नहीं या जलूँ नहीं। लड़ना और ईर्ष्या-द्वेष से जलना तो गुलाम मस्तिष्क का द्योतक है। हम शताब्दियों से यही करते आये हैं। पर आज धर्म में से पारस्परिक प्रेम और सौहार्द, सेवाभाव और असल चरित्र को प्रकट होना होगा। चरित्र ही धर्म की कसौटी है। आध्यात्मिकता ही वह निकष है, जिस पर धर्म कसा जाता है। श्रीरामकृष्ण इसी बात पर पुनः पुनः बल देते हैं।

श्रीरामकृष्ण को दिखावे का धर्म कतई पसन्द न था, पर दुर्भाग्य से आज धर्म का अधिकांश दिखावे से ही भरा है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा था, "विश्व के धर्म प्राणहीन उपहास मात्र बनकर रह गये हैं। हम जो चाहते हैं, वह है चरित्र।" जितना अधिक चरित्र तुम्हारे पास होगा, तुम

उसी परिमाण में धार्मिक होंगे। दिखावे का धर्म कोई धर्म ही नहीं है। श्रीरामकृष्ण हमें ऐसे दिखावे के धर्म से सावधान कर देते हैं। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में हम पढ़ते हैं — 'जो अपने कान में तुलसी खोंचता है, उससे बचकर रहो।' वे हमें ठीक इन्हीं शब्दों में सावधान करते हैं। हम अपने कान में तुलसी खोंचकर अपने आपको बड़ा धार्मिक प्रदर्शित करना चाहते हैं और दूसरे क्षण बाहर जाकर किसी को ठग आते हैं। हमारे साथ यह धर्म का दिखावा और ठगी दोनों साथ साथ चल सकते हैं। पर जो यथार्थ आध्यात्मिक है, वह ऐसा कभी नहीं करेगा। तुम अपने प्रेम को, अपनी समवेदना को, अपने सेवाभाव को प्रकट करके दिखाओ कि तुम आध्यात्मिक हो। यही श्रीरामकृष्ण की प्रमुख सीख है और यही हमारे सारे शास्त्रों की भी केन्द्रीय शिक्षा है। धर्म को जीवन में उतारो और उस दिव्यता को अभिव्यक्त करो, जो भीतर निहित है। स्वामी विवेकानन्द धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'मनुष्य में जो दिव्यता पहले से निहित है, उसकी अभिव्यक्ति को धर्म कहा जाता है।' जब वह दिव्यता तनिक भी प्रकट होती है, तो दूसरों के लिए समवेदना के भाव हमारे भीतर पैदा होता है और सेवा-भाव जागता है। शोषण और मुकदमा करने की इच्छा नहीं जागती। दुनिया में हिन्दू ही सबसे ज्यादा मुकदमेबाज है। हमें लड़ना, झगड़ा करना, कोर्ट-अदालत करना बड़ा भाता है; यहाँ तक कि क्षुद्र से क्षुद्र चीज के लिए भी हम प्रिवी कौंसिल तक चले जाते हैं! यह सब क्यों होता है? इसलिए कि सच्चा धर्म वह नहीं है; जो धर्म के नाम से पास में दिखता है, वह मात्र एक पुण्य कर्म है, चरित्र नहीं। वहाँ दूसरों के लिए समवेदना नहीं है। इस हिन्दू को बदलना होगा और उसकी जगह एक नये हिन्दू को जन्म लेना होगा, जो सबमें उसी एक ईश्वर को देखकर सबको प्यार और सबकी सेवा करेगा। मन्दिर हमें

आखिर इसी बात की ही तो प्रेरणा देते हैं कि ध्यान में जो कुछ पाते हो, उसको जीवन में ढालो। जब स्वामी विवेकानन्द मद्रास में 'भारत का भविष्य' इस विषय पर अपना सुविख्यात व्याख्यान दे रहे थे, तब उन्होंने एक स्थान पर कहा था––"अपने मानव-बन्धुओं की सेवा करो, उनकी उपासना करो।" वे 'उपासना' शब्द का उपयोग करते हैं। जब उन्होंने यह कहा था, तब उनके मनश्चक्षु के सामने भागवत का वह सुप्रसिद्ध श्लोक था, जिसमें भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए कहते हैं––

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ।। ३/२९/२७

स्वामी विवेकानन्द की सारी शिक्षा इसी एक श्लोक की व्याख्या कही जा सकती है। भगवान् कहते हैं, "मैंने अपने लिए प्रत्येक प्राणी के हृदय में मन्दिर बनाकर पहले से रखा है। मेरी उपासना वहीं करो।" "वहाँ आपकी पूजा किस प्रकार करें?" प्रभु उत्तर देते हैं, "दानमानाभ्याम्—दान और मान के द्वारा।" 'मान' का अर्थ होता है सत्कार। दूसरों का सत्कार करो। वह गरीब हो, अज्ञ हो, नीच हो, पर उसका सत्कार करो, क्योंकि उसके भीतर मैं ही हूँ। यदि वह भूखा या जरूरतमन्द है, तो उसे भोजन दो, उसकी जरूरत को पूरा करो। यदि वह अज्ञ है, तो उसे शिक्षा दो। यदि वह निराशा में डूबा हुआ है, तो उसे उत्साह और प्रेरणा दो। और इस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताओं को दूर कर 'अर्हयेत्'—मेरी उपासना करो। उपासना के समय भाव कैसा रहे?––'मैत्र्या'––मित्रता का। कैसी सुन्दर भावना है! पर अन्तिम उक्ति तो और भी विलक्षण है—'अभिन्नेन चक्षुषा'–– अभिन्न दृष्टि से देखते हुए! हम सब वस्तुतः एक हैं। तुम भले ही अमीर हो और मैं गरीब, कोई सुशिक्षित हो तो कोई गँवार–– पर इससे क्या? बाहर की

ओर न देखो। अन्दर तो वही एक आत्मा सबमें विद्यमान है। यही 'अभिन्नेन चक्षुषा' का अर्थ है -- सबको एक आँख से देखना। वेदान्त ने इस 'अभिन्न दृष्टि' की बड़ी प्रशंसा की है और 'भिन्न दृष्टि' की निन्दा। पर दुर्भाग्य से हमारे भारतीय समाज ने इस 'भिन्न दृष्टि' का ही पोषण किया -- तुम अलग हो और मैं अलग, तुम्हें सौ रुपये अधिक वेतन मिलता है तो मुझे कम, तुम ब्राह्मण हो और मैं चाण्डाल ! पर आज श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के आगमन के साथ हमें अपने शास्त्रों का यह महान् सन्देश एक बार फिर से सिखाया जा रहा है। आज भारत को यही ज्ञान चाहिए -- सबमें उसी एक आत्मा को देखने का ज्ञान। जब हम इस महान् दर्शन को अपने जीवन में उतारेंगे, तभी हम अपने देश में ऐसे सुदृढ़ समाज की रचना करने में समर्थ होंगे, जो सुसंगठित और प्रगतिशील होगा -- केवल धर्म के क्षेत्र में नहीं बल्कि आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में। केवल तभी भारत का सच्चा विकास साधित होगा।

अतः, जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा है, इस आश्रम के पीछे सेवा का यह महान् दर्शन -- जीव में शिव की उपासना का महान् तत्त्वज्ञान कार्यरत रहा है। जीव में शिव की सेवा करते हुए हम अपने भीतर विद्यमान ईश्वर के दर्शन कर सकते हैं। सेवा की इस प्रक्रिया द्वारा 'कच्चा अहं' 'पक्के अहं' में परिवर्तित हो जाता है। श्रीरामकृष्ण 'कच्चे अहं' का दृष्टान्त देते हैं, जो कहता रहता है -- 'मैं ब्राह्मण हूँ' 'मैं चाण्डाल हूँ', 'मैं हिन्दू हूँ' 'मैं मुसलमान हूँ', 'मैं धनी हूँ' 'मैं सत्ताधीश हूँ' 'मैं गणमान्य हूँ'। श्रीरामकृष्ण कहते हैं -- इस 'कच्चे मैं' को 'पक्के मैं' में बदल डालो। 'पक्का मैं' कहता है -- 'मैं सबका दास हूँ' 'म सबका मित्र हूँ'। अब तक हमने बहुत पुण्य कर्म किये, पर तो भी हमारा 'मैं' कच्चा ही बना रहा, इसीलिए हम सच्चे अर्थों में कुछ भी

अच्छा नहीं कर सके। पर अब श्रीरामकृष्ण हमसे कहते हैं कि इस 'कच्चे मैं' को दूर कर डालो और उसे 'पक्का' बना लो। तभी तुम आध्यात्मिक बनोगे और सही मायने में आत्म-विकास साधित कर सकोगे। और तभी दूसरों के साथ मिलकर तुम एक टीम के रूप में, लड़ाई-झगड़े से दूर रहकर सहयोग और सहकार की भावना लेकर कार्य कर सकोगे।

श्रीरामकृष्ण एक दूसरा दृष्टान्त देते हुए कहते हैं —"संसार में रहो, कोई दोष नहीं। पर संसार तुममें न रह पाये। नाव पानी में रहे, पर पानी नाव में न रहे।" यदि पानी नाव में चला जाय, तो वह नाव को उसके काम के योग्य न रखेगा। वह नाव को अचल कर देगा। इसी प्रकार जब संसार मनुष्य में प्रवेश करता है, तो मनुष्य अचल हो जाता है, कुण्ठित और गतिहीन हो जाता है। 'संसार' का तात्पर्य ही है 'कुण्ठा'। संसार में रहना और संसार का तुममें रहना ये दोनों एक नहीं हैं। हम सभी संसार में रहते हैं, श्रीरामकृष्ण भी संसार में रहते थे। उपदेश संसार का विरोधी नहीं है, वह सांसारिकता का विरोध करता है, जो हममें घुसी हुई है। हम हिन्दुओं में सचमुच ही संसार पैठा हुआ था, तभी तो हम लड़ते और झगड़ते रहे, अपना राजनैतिक स्वातंत्र्य खो बैठे और समाज को हमने भ्रष्टाचार एवं अत्याचार का गढ़ बना डाला। आज इन महान् आचार्यों के उपदेशों के फलस्वरूप एक नये भारत का जन्म हो रहा है, प्रगतिशील विचार अंगड़ाई ले रहे हैं और जीवन के प्रति एक उदार दृष्टिकोण धीरे धीरे उभरता जा रहा है। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि हम सागर के समान गहरे हों और आकाश के समान उदार। वे चाहते थे कि हमारे चरित्र में जहाँ एक ओर साम्प्रदायिक की कट्टरता हो, वहीं दूसरी ओर भौतिकवादी की उदारता। बस, यही श्रीरामकृष्ण तथा उनके नाम पर चलनेवाली

संस्था का सन्देश है। रायपुर में यह महान् संस्था लोगों को प्रेरणा देने के लिए कार्यरत है, जिससे वे सही अर्थों में चारित्रिक शक्ति और प्रगतिशील प्रवृत्तियों का विकास कर सकें। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर आधुनिक भारत का केन्द्र है। मेरा तात्पर्य भिलाई इस्पात कारखाना से है, जो आधुनिक विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का केन्द्र है। और यहाँ रायपुर में यह मन्दिर है, जो आध्यात्मिकता की प्रयोगशाला है। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि हम भौतिक विज्ञान के साथ अध्यात्म के विज्ञान का समन्वय करें। अतः आइए, हम एक नये भारत के निर्माण के लिए इन दो शक्ति-प्रवाहों को एकसाथ अपनाकर समन्वित कर लें।

रामकृष्ण संघ की ये संस्थाएँ उस तरह की सामान्य धार्मिक संस्था नहीं हैं, जहाँ जीवन और धर्म में विरोध रहता है। श्रीरामकृष्ण जीवन और धर्म की इस खाई को पाटने के लिए आये थे। उन्होंने जीवन को एक प्रवाह के रूप में ही देखा, जहाँ जीवन और धर्म में कोई विरोध नहीं था। उनकी सर्वत्र एक ही दृष्टि थी। इसी को भगवद्गीता में 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहकर पुकारा गया है, जहाँ लक्ष्य की एकता है, बाहरी और भीतरी दृष्टि की एकता है। इससे मनुष्य का यथार्थ चरित्र निखर आता है। आज का युवावर्ग धर्म में से इसी चरित्र को निकलते देखना चाहता है; ऐसा यदि न हो, तो वह धर्म से तनिक भी प्रभावित होनेवाला नहीं। यदि तुम केवल धर्म दिखाओ और चरित्र नहीं, तो उनके मन में धर्म के प्रति तनिक भी श्रद्धा न होगी। पर यदि तुम अपने धार्मिक विश्वास के साथ साथ चरित्र भी प्रदर्शित करो, तो वे उसका समादर करेंगे। और ऐसा चरित्र-सम्पन्न धार्मिक विश्वास सर्वत्र आदर और श्रद्धा का पात्र होता है—यहाँ अपने देश में, तथा अमेरिका, यूरोप आदि बाहर के देशों में भी। अतएव आज धर्म के समक्ष यही चुनौती है—क्या तुम एक

उच्च चरित्र दिखा सकते हो ? जिस प्रकार तुम्हारा खाया हुआ अन्न तुम्हारे शरीर की शक्ति में झलकता है, उसी प्रकार तुम जिस धर्म की साधना करते हो, उसे तुम्हारे चरित्र में झलकना चाहिए, तुम्हारी सेवा-भावना और व्यावहारिक कर्म-कुशलता में प्रकट होना चाहिए।

तो, यह वह सन्देश था, जिसे प्रसारित करने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द आये। यहाँ पर एक तीसरे व्यक्तित्व का उल्लेख मैं परमावश्यक समझता हूँ—वह है श्री माँ सारदा देवी का, जो अति सरल और निश्छल थीं, अनन्त पवित्रता और करुणा की प्रतिमूर्ति थीं। इस रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन के पीछे ये तीन आध्यात्मिक दिग्गज रहे हैं। यह आन्दोलन न केवल भारत को; वरन् समग्र संसार को शक्तिसम्पन्न करेगा। मैंने देखा है कि किस प्रकार लोग उत्कट श्रद्धा और आदरपूर्वक श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द सम्बन्धी वार्ताओं को सुनते हैं। टोरण्टो के कार्लटन विश्वविद्यालय में तथा इसी प्रकार टोकियो के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र में जब मैं श्रीरामकृष्ण पर चर्चा कर रहा था, तो प्रवचन के अन्त अन्त में सारा कक्ष कैसा अपूर्व भावमय हो उठा था; सबको ऐसा लगा मानो वे धरती के पृथुल भाव को छोड़कर सूक्ष्म भावराज्य में ऊपर उठ आये हों। जहाँ भी 'श्रीरामकृष्ण' नाम का उच्चारण होता है, वह स्थान मानो मन को ऊपर उठा देता है। मुझे अपनी विदेश-यात्राओं में इसका बारम्बार अनुभव हुआ। भागवत में जो बात श्रीकृष्ण के लिए कही गयी है, वही बात श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भागवत में दो सुन्दर श्लोक आये हैं—

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ १।१।१९
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भरिदा जनाः
॥ १०।३१।९

—— पुण्यकीर्ति भगवान् की लीला सुनने से हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद पद पर भगवान् की लीलाओं में नये नये रस का अनुभव होता है।

—— तुम्हारी लीलाकथा अमृतस्वरूप है। तापतप्त लोगों के लिए तो वह जीवन-सर्वस्व ही है। बड़े बड़े ज्ञानी-महात्माओं—भक्त कवियों ने उसका गान किया है, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवणमात्र से परम मंगल——परम कल्याण का दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीलाकथा का गान करते हैं, वास्तव में भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं।

कैसा अपूर्व भाव है! ठीक ऐसे ही कहा जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण की कथा भी अमृतस्वरूप है, उनके वचन अमृतस्वरूप हैं। विश्व के प्रायः सभी भागों में ऐसे हजार हजार लोग मिलेंगे जो प्रतिदिन श्रीरामकृष्णवचनामृत का कम से कम एक पृष्ठ पढ़ा करते हैं। (यह ग्रन्थ विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध है।) हमें वहाँ यथार्थ की आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है, दिखावे का धर्म नहीं। आधुनिक विश्व को इसी का सन्देश देने के लिए श्रीरामकृष्ण आये थे।

अन्त में अपने भाषण की समाप्ति मैं उस श्लोक को दुहराकर करूँगा, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण पर रचा था। जिस अवसर और काल में यह श्लोक स्वामी विवेकानन्द के मुख से निर्गत हुआ था, आज का यह उत्सव उस अवसर का हमें बरबस स्मरण करा देता है। हमने श्रीरामकृष्ण देव के विग्रह को मन्दिर में स्थापित किया है। ऐसी ही एक घटना घटी थी, जब स्वामी विवेकानन्द अमेरिका से लौटकर आये थे। श्रीरामकृष्ण की एक गृहस्थ-भक्त श्रीमती नवगोपाल घोष ने अपने हौड़ा स्थित निवास में एक छोटासा पूजागृह बनाया था। वे स्वामी विवेकानन्द के पास आयीं और बोलीं. "नरेन, तुम मेरे घर आओ और श्रीरामकृष्ण के चित्र को पूजाघर में स्थापित कर जाओ। तुम तो

जानते ही हो, उन्होंने कहा है, 'जहाँ नरेन मुझे ले जायगा, मैं वहीं रहूँगा'।" स्वामीजी राजी हो गये। निर्दिष्ट दिन उन्होंने गंगा में स्नान किया और हौड़ा में श्रीमती घोष के घर पहुँचे। वे पूजाघर में गये। वह छोटा सा कमरा था, नीचे संगमर्मर की फर्श लगी थी। हाथ में फूल लेकर स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्घ्य दिया और प्रार्थना की, "इस परिवार में निवास करो। इनका मंगल करो।" उन्होंने अत्यन्त सहज ढग से ये शब्द कहे, क्योंकि उनके लिए श्रीरामकृष्ण साक्षात् जीवन्त अनुभूति थे। ऐसा कहकर जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया, उसी समय उनके मुख से यह श्लोक बरबस फूट पड़ा, जिसे हम प्रतिदिन आरती के समय गाया करते हैं—

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥

– 'हे धर्म के स्थापक! हे सर्वधर्मस्वरूप! हे अवतारवरिष्ठ रामकृष्ण! तुम्हें बारम्बार प्रणाम है।'

यह श्लोक श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग रहस्य को खोलता है, जो इस विश्व में धर्म की, अध्यात्म की प्रतिष्ठा करने के लिए आये थे। पर वे किसी एक विशेष धर्म की, या अपने नाम के धर्म की — 'रामकृष्ण धर्म' की प्रतिष्ठा करने नहीं आये थे। वे तो 'सर्व-धर्म-स्वरूप' थे—सभी धर्मों के जीवन्त विग्रह थे। उनके प्राणसिंचन से प्रत्येक धर्म प्राणवान् हुआ है—एक ईसाई अच्छा ईसाई बनने का पाथेय उनके जीवन से प्राप्त करेगा, एक मुसलमान अच्छा मुसलमान बनने का और एक हिन्दू अच्छा हिन्दू बनने का। तभी तो वे 'अवतारवरिष्ठ' हैं—अवतारों में श्रेष्ठ हैं। दैवत्व की ऐसी महिमामयी जीती-जागती मूर्ति — श्रीरामकृष्ण — के चरणों में मेरे बारम्बार प्रणाम।

धन्यवाद :

●

विश्व के धर्मों को श्रीरामकृष्ण की देन

स्वामी हिरण्मयानन्द

स्वामी आत्मानन्द, विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधिगण, उपस्थित स्वामीजीगण और मित्रो !

मैं स्वामी आत्मानन्द को मन्दिर-प्रतिष्ठापन के अवसर पर यहाँ सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन करने के लिए साधुवाद देता हूँ। आपको विदित है कि यह मन्दिर श्रीरामकृष्ण को समर्पित है तथा आप सब यह भी जानते हैं कि उनका जीवन ही सर्व-धर्म- सम्मिलन का स्थल है। अन्तर केवल यह है कि हम बौद्धिक धरातल पर धर्म पर चर्चा करते हैं और इसी कारण वह चर्चा बड़ी उथली हो जाती है, किन्तु श्रीरामकृष्ण के लिए वह उथला नहीं था, वह तो धर्म का समग्र आन्तरिकता के साथ स्वीकरण था तथा धर्म के सन्देश के अनुरूप समूचे जीवन का आमूलचूल रूपान्तरण था। अवश्य यह बात सभी महान् धार्मिक उपदेष्टाओं के लिए भी सच है, किन्तु श्रीरामकृष्ण ने मात्र हिन्दू धर्म का ही प्रचार, उपदेश और साधना नहीं की, प्रत्युत उन्होंने अन्य सभी धर्मों को भी स्वीकार किया। यह अन्य धर्मों के प्रति केवल सहमति जताना—सिर हिलाकर सहमति देना ही नहीं था, ताकि वे भी बने रहें, पर यह सभी धर्मों को, सभी धर्मों के सार तत्त्वों को समग्रतया स्वीकार करना था। अतः जब यह मन्दिर श्रीरामकृष्ण को समर्पित किया गया है, तब यह समीचीन और उपयुक्त है कि हम केवल श्रीरामकृष्ण का ही नहीं अपितु विश्व के सभी महान् धर्मों के संस्थापकों का भी इस अवसर पर स्मरण करें।

विषय पर बोलने से पहले मैं पुनः स्वामी आत्मानन्द को एक अत्यन्त सुन्दर स्थापत्य के निर्माण के लिए साधुवाद देता हूँ, जो नेत्रों को सुख देता है और मन को एक दैवी एवं अनैसर्गिक आवेश से भर देता है। और, आपको यह जानना चाहिए कि यह मन्दिर एक संरचना मात्र नहीं हैं। स्वामी विवेकानन्द के

मतानुसार संरचना इमारत के कार्यफलवाद पर आधारित होती है। परन्तु स्थापत्य वह है, जो किसी विचार का प्रतिनिधित्व करता है। यह अपेक्षाकृत छोटासा मन्दिर उस मन्दिर के प्रारूप के आधार पर निर्मित है, जिसकी कल्पना स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने की थी तथा जो बाद में बेलुड़ में उनके द्वारा सुझाये गये प्रारूप पर बनाया गया। उस मन्दिर के मूल में कौन सा विचार रहा होगा ? यही कि श्रीरामकृष्ण, जो सभी धर्मों के समन्वयकर्ता हैं, को एक ऐसे मन्दिर में प्रतिष्ठित किया जाय, जो भारत और विश्व के विभिन्न धार्मिक स्थलों के स्थापत्यों का समन्वय करे। अतः जब आप यहाँ इस मन्दिर को देखते हैं, तो आप पाएँगे कि इसका आधार सलीब के समान दिखायी देता है, जो ईसाइयत की व्यंजना करता है। और जब आप गुम्बदों को देखते हैं, तो ये गुम्बद, जो मूल गुम्बदों से कुछ भिन्न हैं, आपको मुगल स्थापत्य का स्मरण करा देते हैं। जब आप सामने आते हैं, तो आपको वह शिल्प मिलेगा, जिसका उदय बौद्धयुग में हुआ। द्वार के ऊपर आपको बंगाल के मन्दिरों की सी स्थापत्य-शैली मिलेगी, जो पर्णाच्छादित कुटियों के समान दिखायी देती है। बंगाल में शिव तथा अन्य देवताओं के मन्दिर इसी प्रारूप पर निर्मित हैं। मुख्य गुम्बद के पार्श्वों में आप जो छत्रियाँ देखते हैं, वे राजपूताना की हैं। अतः आप पाएँगे कि यहाँ छोटे रूप में तथा बेलुड़ मठ में वृहत् रूप में, स्वामी विवेकानन्द की धारणा में किस प्रकार मन्दिर, गिरजा और मसजिदों की विभिन्न स्थापत्य- शलियों का समन्वय हुआ है। अँगरेजों के आक्रमण के बाद भारत में अन्य कलाओं के समान स्थापत्य भी विजड़ित हो गया था। सबसे पहले स्वामी विवेकानन्द की कल्पना और अन्तर्दृष्टि ने भारत की स्थापत्य कला को गतिशीलता प्रदान की और आज तो अनेक मन्दिर इसी प्रारूप पर निर्मित हो रहे हैं—केवल इसी प्रारूप पर नहीं, बल्कि

अन्य प्रारूपों पर भी। ये मन्दिर श्रीरामकृष्ण को समर्पित हैं और ये उनकी चेतना के भीतरी सारतत्त्व को एक बाह्य रूप प्रदान करते हैं। अतः मध्यप्रदेश में एक नये मन्दिर का निर्माण कर, जो एक नया विचार प्रदान करता है, राष्ट्र के स्थापत्य को एक नयी गति देने का यह एक सुन्दर उपक्रम है। किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि नवीनता ही मुख्य वस्तु नहीं है, शाश्वतता की भी खोज की जानी चाहिए। और यह शाश्वतता धर्म की बाह्याभिव्यक्ति में नहीं है, वह तो प्रत्येक धर्म का आन्तरिक सार है।

आपने विभिन्न धर्मों पर विभिन्न वक्ताओं के विचार सुने हैं तथा आपने देखा कि प्रत्येक धर्म शान्ति, सौहार्द और समन्वय की बात करता है। किन्तु यदि इसी के साथ आप मानव-इतिहास को पढ़ें, तो आपको ज्ञात होगा कि धर्म के नाम पर कितने भयंकर रूप से सारे संसार को मनुष्य के खून से सींचा और भिगोया गया है। ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि हमने अनाज को फेंककर भूसे को ही स्वीकार कर लिया; हमने केवल अपने ही धर्म को सत्य माना और दूसरे धर्मों का तिरस्कार किया। तो क्या इसी बात पर धर्म को पूरी तरह से छोड़ा जा सकता है ? नहीं। यह तो मनुष्य की प्रकृति में है। अँगरेज कवि थॉमसन के शब्दों में यह 'दि हाउण्ड ऑफ हैवन' (स्वर्ग का श्वान) है। हम इस स्वर्ग के श्वान से मुक्त होने का भले ही प्रयास करें, किन्तु हो नहीं सकते। धर्म हमारे कदमों की चौकसी करता है तथा वह हमारे पीछे पीछे चलता है। हमारे लिए कोई एक धर्म आवश्यक है, किन्तु सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि हम धर्म के नाम पर झगड़ते हैं। हम विभिन्न भाषाओं के आधार पर अथवा अपने शरीर के विभिन्न रंग और वर्ण को लेकर उतना नहीं झगड़ते, जितना धर्म को लेकर झगड़ते हैं। क्यों ?

इसलिए कि हम धर्म के प्रति एकांगी दृष्टि रखते हैं, उसके अनावश्यक तत्त्वों तथा बाह्य स्वरूप को ही धर्म समझते हैं। किन्तु यदि हम धर्मों के सारतत्त्व तक जाएँ, तो देखेंगे कि सर्वत्र वह सारतत्त्व एक ही है। और जैसा कि आपने सुना है, इसकी अभिव्यक्ति भी समान होनी चाहिए—अपने भाइयों से प्रेम करना, अपने पडोसियों से प्रेम करना, अपने साथी मानवों से प्रेम करना, सभी लोगों को शान्ति और सौहार्द प्रदान करना, अपने होठों से सबके कल्याण के लिए मंगलकामना करना। किन्तु दुर्भाग्य से हम यह नहीं करते और सोचते हैं कि हम धार्मिक दृष्टि से अत्युच्च हैं। यद्यपि भारत में एक ही हिन्दू धर्म था, परन्तु वास्तव में यह विभिन्न सम्प्रदायों का एकीकरण था। स्वामी व्योमरूपानन्द ने आपको हिन्दू धर्म की मौलिक पवित्रता की, उसके मौलिक रूप की धारणा प्रदान की है। किन्तु हिन्दू धर्म का भी विकास हुआ तथा उसमें विभिन्न सम्प्रदाय भी उपजे, जिनमें परस्पर असहमति, विरोध और संघर्ष होता रहता था। श्रीकृष्ण के अवतरण के समय तक इन विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समन्वय और सामंजस्य का कोई प्रयास हम नहीं पाते। यह श्रेय भगवान् श्रीकृष्ण को ही जाता है कि उन्होंने गीता के माध्यम से उन सब सम्प्रदायों को समन्वित कर हिन्दू धर्म को एक समग्र एवं निश्चित स्वरूप प्रदान किया। अतः गीता समन्वय का ग्रन्थ है। उस युग में हमारे देश में जो भी धार्मिक विचार प्रचलित थे, उन्हें समेटकर एक सूत्र में हार के समान गूँथ लिया गया, जैसे विभिन्न रत्नों को एक साथ पिरोया जाता है—'सूत्रे मणिगणा इव'। और इस प्रकार श्रीकृष्ण ने हमें एक समन्वित धर्म प्रदान किया। इसके बाद हजारों साल बीत गये। इस बीच भारत में अनेक महापुरुषों एवं अवतारों का आगमन हुआ, किन्तु किसी ने उन्नीसवीं शताब्दी तक विचारधाराओं को

समन्वित करने का प्रयास नहीं किया। और उन्नीसवीं शताब्दी में एक निरक्षर, दरिद्र, ब्राह्मण किशोर का अवतरण हुआ, जिसने सोचा कि धर्म केवल विश्वास की ही वस्तु नहीं हो सकती, वह तो ऐसा तत्त्व है, जिसका अनुभव किया जाना चाहिए। यदि धर्म सत्य है, तो मुझे अपने जीवन में उसकी अनुभूति कर लेनी चाहिए। यह एक ऐसी दृष्टि थी, जो सोलहवीं शताब्दी से उन यूरोपियों के मानसाकाश को भी धीरे धीरे घेरती जा रही थी, जो क्रमशः धर्म का परित्याग कर रहे थे। नवजागरण की समाप्ति के उपरान्त यूरोप में बुद्धिवाद का युग आया तथा लोग बौद्धिक पद्धति पर अधिकाधिक निर्भर होने लगे। वे उसी तथ्य को स्वीकार करते, जिसकी पुष्टि बुद्धि के द्वारा हो सकती। फलस्वरूप विज्ञान का उदय हुआ तथा विज्ञान के द्वारा वहाँ महान् प्रगति सम्भव हुई। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप अपने समय के जाने माने संसार के समस्त भागों पर क्रमशः आधिपत्य स्थापित करने लगा। विज्ञान की प्रणाली प्रत्येक वस्तु को परखना, प्रयोग में ढालना तथा सिद्ध करना आवश्यक मानती है। यहाँ, भारत के इस कोने में, गदाधर नामक एक दरिद्र और निरक्षर ब्राह्मण किशोर ने, जिसे कालान्तर में रामकृष्ण के नाम से जाना गया, इसी प्रयोग और परीक्षण की विधि को अपनाना चाहा। और ऐसा करने के लिए उसने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों को क्रमशः स्वीकार करते हुए उनके सत्य को जानने का प्रयास किया। इस समय तक संसार के आयाम सिमट गये थे तथा विभिन्न राष्ट्रों के निवासी एक दूसरे के समीप आने लगे थे। इसलिए श्रीरामकृष्ण ने ईसाई और इस्लाम जैसे अन्य धर्मों पर भी प्रयोग करना चाहा। और उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से उन धर्मों पर प्रयोग किये, क्योंकि यह दृष्टि ही सत्य के निर्धारण की एकमात्र विधि है। उन्होंने अपने जीवन की प्रयोग

शाला में विश्व के समस्त विभिन्न धर्मों को सत्यता की पुष्टि की। ऐसा कर उन्होंने केवल हिन्दू धर्म की ही सत्यता प्रमाणित नहीं की, वरन् अन्य धर्मों की सत्यता की भी पुष्टि की। और तब उन्होंने घोषित किया कि धर्मों के मध्य झगडों के लिए कोई जगह नहीं है।

अत: यदि हम जीना चाहते हैं, और यदि धर्म को जीवित रहना है, तो इस उपदेश को ग्रहण करना होगा। क्योंकि यदि आप आज संसार की ओर देखें, तो आप पाएँगे कि यह दो खेमों में विभक्त है। एक खेमा तो धर्म को मानता है, कम से कम उसकी मौखिक सहानुभूति धर्म के साथ है, जैसे अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि; किन्तु दूसरा खेमा धर्म को नहीं मानता; जैसे रूस, चीन और यूरोप के कुछ अन्य देश। वक्ताओं में से एक ने कार्ल मार्क्स का उल्लेख किया, जो धर्म को जनता की अफीम समझते थे। यह अफीम जनता को इसलिए खिलायी जाती है कि वह सो जाय तथा समाज में अपने अधिकारों का आग्रह न करे। इसलिए मार्क्स ने कहा कि धर्म का तिरस्कार करना चाहिए तथा जीवन को उस दर्शन पर आधारित होना चाहिए, जिसे उन्होंने द्वन्द्वात्म भौतिकवाद कहा। इस दर्शन को रूस, चीन तथा अन्य कुछ देशों ने स्वीकार किया है। वे सब धर्म के विरोधी हैं। तो, अगर धर्म को जीवित रहना है, तो संसार के सभी धर्मों को संगठित होना होगा। श्रीरामकृष्ण ने एकता और समन्वय का यही सन्देश प्रदान किया।

चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों का खतरा बिलकुल सही है। स्वामी विवेकानन्द ने बहुत पहले, सन् १८९३ में, इसका अनुमान कर लिया था। अपने एक भाषण में भारतीयों पर किये गये ग्रेट ब्रिटेन के अत्याचारों पर बोलते हुए उन्होंने कहा था कि शीघ्र ही यूरोप को ईश्वर का प्रतिशोध भोगना होगा तथा यह प्रतिशोध चीनियों के रूप में आयगा। चीनी ईश्वर का वह

प्रतिशोध होंगे, जो पूरे यूरोप पर छा जायगा । पुरुष, स्त्री, बालक सब नष्ट हो जायँगे और फिर से अन्धकार युग आ जायगा । हम आज देखते हैं कि उनकी भविष्यवाणी कितनी सच है । अतः यदि धर्म को बचना है, और इसे बचना ही है--अगर संसार को अपने मूल आधार, सारतत्त्व, चरमतत्त्व की रक्षा करनी है, तो इसे बचना ही होगा--तो सभी धर्मों को एक साथ आना होगा, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना है कि हम केवल अपने धर्म तक सीमित न हों; या यों कहें कि धर्म के अनावश्यक अंगों को ही पकड़कर हम न बैठे रहें, क्योंकि ये अनावश्यक अंग निरन्तर परिवर्तनशील हैं । हमारे इतिहास के आरम्भ से, जिसकी याद हम कर सकते हैं । वेदों के समय से हम ऐसा ही पाते हैं । एक समय इस देश के निवासी गोमांस का भक्षण करते थे, स्त्रियाँ अपने पति के भाई से विवाह कर लेती थीं, लोग अश्वमेध करते थे, घोडे की बलि देते थे । पर ये सब कहाँ हैं ? जब उन्हें अनुपयुक्त पाया गया, तब उनका तिरस्कार कर दिया गया । तो, हम पर युगों का भार लदता आया है और हम उसके बोझ से झुके जा रहे हैं । हमें यह सब उतार फेंकना है और धर्म के सही मर्म को ग्रहण करना है धर्म का सही मर्म है अनुभूति, वह है अपने स्वयं के जीवन में धर्म के सिद्धान्तों का परीक्षण और उनकी पुष्टि । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में धर्म वह है, जो शक्तिप्रद है । संसार के सभी प्रमुख धर्मों का यह एक समान अभिलक्षण है, जिसका प्रकाशन किया जाना चाहिए । इसलिए हम सभी धर्मों को श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त का दर्शन करने के लिए आमंत्रित करते हैं, जिन्होंने धर्म पर एक नया प्रकाश डाला, जिन्होंने सिखाया कि सभी धर्मों में सत्य निहित है किन्तु उस सत्य को जीवन में प्रतिबिम्बित करने की आवश्यकता है । इस प्रकार के सर्व-धर्म-परिषदों के माध्यम से हम अन्य धर्म

के अनुयायियों को आमंत्रित करते हैं कि वे आकर इनमें भाग लें, विचारों का आदान-प्रदान करें और इस तरह धर्म को अपने जीवन में वास्तविक स्थान प्रदान करें। अतः आइए, हम संगठित हों और धर्मविरोधी शक्तियों से संघर्ष करें। और जब यह संपन्न होगा, तभी एक नये विश्व, एक उत्कृष्टतर विश्व, संस्कृति और सभ्यता की एक नयी व्यवस्था का अभ्युदय और विकास होगा। अतः इस महान् अवसर पर जब श्रीरामकृष्ण के विग्रह की यहाँ प्रतिष्ठा हुई है, जो हमें उनका तथा उनके सन्देश का स्मरण कराने के लिए एक प्रतीक है और एक ऐसे मन्दिर में, जो स्थापत्य की दृष्टि से सर्व-धर्म-समन्वय के आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है, मैं ईश्वर से आप सबके कल्याण की प्रार्थना करता हूँ, ताकि आप उचित पथ पर आगे बढ़ें और इसी जीवन में धर्म के सारतत्त्व की अनुभूति कर लें।

धन्यवाद !

मैं अभी तक के सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ और उन सबकी पूजा करता हूँ; मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ; वे स्वयं चाहे किसी भी रूप में उपासना करते हों। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊँगा, मैं ईसाइयों के गिरजा में क्रास के सामने घुटने टेककर प्रार्थना करूँगा, मैं बौद्ध-मन्दिरों में जाकर बुद्ध और उनकी शिक्षा की शरण लूँगा। मैं जगल में जाकर हिन्दुओं के साथ ध्यान करूँगा, जो हृदयस्थ ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करने में लगे हुए हैं।

— स्वामी विवेकानन्द

मन्दिर प्रतिष्ठापन स्मारिका

श्रीरामकृष्ण मन्दिर के प्रतिष्ठापन समारोह के अवसर पर प्रकाशित, श्रीरामकृष्ण संघ सम्बन्धी प्रचुर ज्ञान सामग्री से युक्त इस संग्रहणीय स्मारिका की कुछ ही प्रतियाँ बिक्री के लिए उपलब्ध हैं।

मूल्य ५) डाक खर्च ३)२५

लिखें– **रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)**

विवेक ज्योति के पुराने प्राप्य अंक

'विवेक ज्योति' के निम्नलिखित पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। शेष अंक अब उपलब्ध नहीं हैं।

वर्ष	२	सन्	१९६४	का अंक १	प्रति अंक मूल्य १)
,,	४	,,	१९६६	का अंक ३	,, ,, ,,
,,	७	,,	१९६९	के अंक १, ३, ४	,, ,, ,,
,,	८	,,	१९७०	के अंक २, ३, ४	,, ,, ,,
,,	९	,,	१९७१	के अंक १, २, ३	,, ,, ,,
,,	१०	,,	१९७२	के अंक ३, ४	,, ,, ,,
,,	११	,,	१९७३	के चारों अंक, सजिल्द ५)	प्रतिअंक १)
,,	१२	,,	१९७४	के चारों अंक, सजिल्द ६)	प्रतिअंक १)२५
,,	१३	,,	१९७५	के चारों अंक, सजिल्द ६)	प्रतिअंक १)२५

पूरे २५ अंक लेने पर मूल्य २५) होगा, डाक खर्च अतिरिक्त होगा।

लिखें—व्यवस्थापक, विवेक ज्योति कार्यालय

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म प्र.)

श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा के बाद प्रणाम करते हुए स्वामी वीरेश्वरानन्दजी